'अहं मय ध्रुव' श्रद्धा का श्रद्धेय नहीं होता। श्रद्धा का श्रद्धेय इतना पूर्ण एवं सर्वोपरि होता है कि वह उसमें अपने को मिलाने का अवकाश नहीं पाती। वास्तव में 'पूर्ण' में 'पूर्ण के अहं' के मिलने की भी कोई गुंजाइश नहीं है।

और तो और सम्यग्दर्शन के घर में स्वयं सम्यग्दर्शन के रहने के लिये भी कोई जगह नहीं है। उसने अपना कोना-कोना ध्रुव के लिये खाली कर दिया है।

'ज्ञान आत्मा का सार्वकालिक स्वभाव है, यह आत्मा की एक असाधारण शक्ति तथा लक्षण भी है। अनन्त जड़ चेतन तत्वों के समुदाय इस विश्व में ज्ञान से ही चेतन की भिन्न पहिचान होती है। वह आत्मा का एक प्रमुख गुण है जो विश्व का सविशेष सार्वकालिक प्रतिभासन करता है। आत्मा के अनन्त गुण तथा धर्म भी ज्ञान में ही प्रतिबिंबित होते हैं, मानों ज्ञान में ही आत्मा का सर्वस्व समा रहा हो।

जीवन के निर्माण में अहिंसा की महती उपयोगिता को विस्मृत करके आज उसे केवल "जीओं और जीने दो" की संकुचित सीमाओं में प्रतिबद्ध कर दिया है। इससे जन-जीवन में अहिंसा विकृत ही नहीं हुई है वरन् उसका स्वरूप ही जीवन और जगत से लुप्त-सा हो गया है। इसका फल यह हुआ कि आज व्यक्ति को अपने जीवन के लिये अहिंसा की कोई उपयोगिता नहीं रही। उसका उपयोग केवल दूसरे प्राणी को बचाने के अनधिकृत तथा विफल प्रयास तक ही सीमित रह गया है।

प्रकाशक :
अखिल भारतीय जैन युवा फेडरेशन
शाखा-कोटा, (राज.)

चैतन्य विहार

'युगल' जैन

चैतन्य विहार

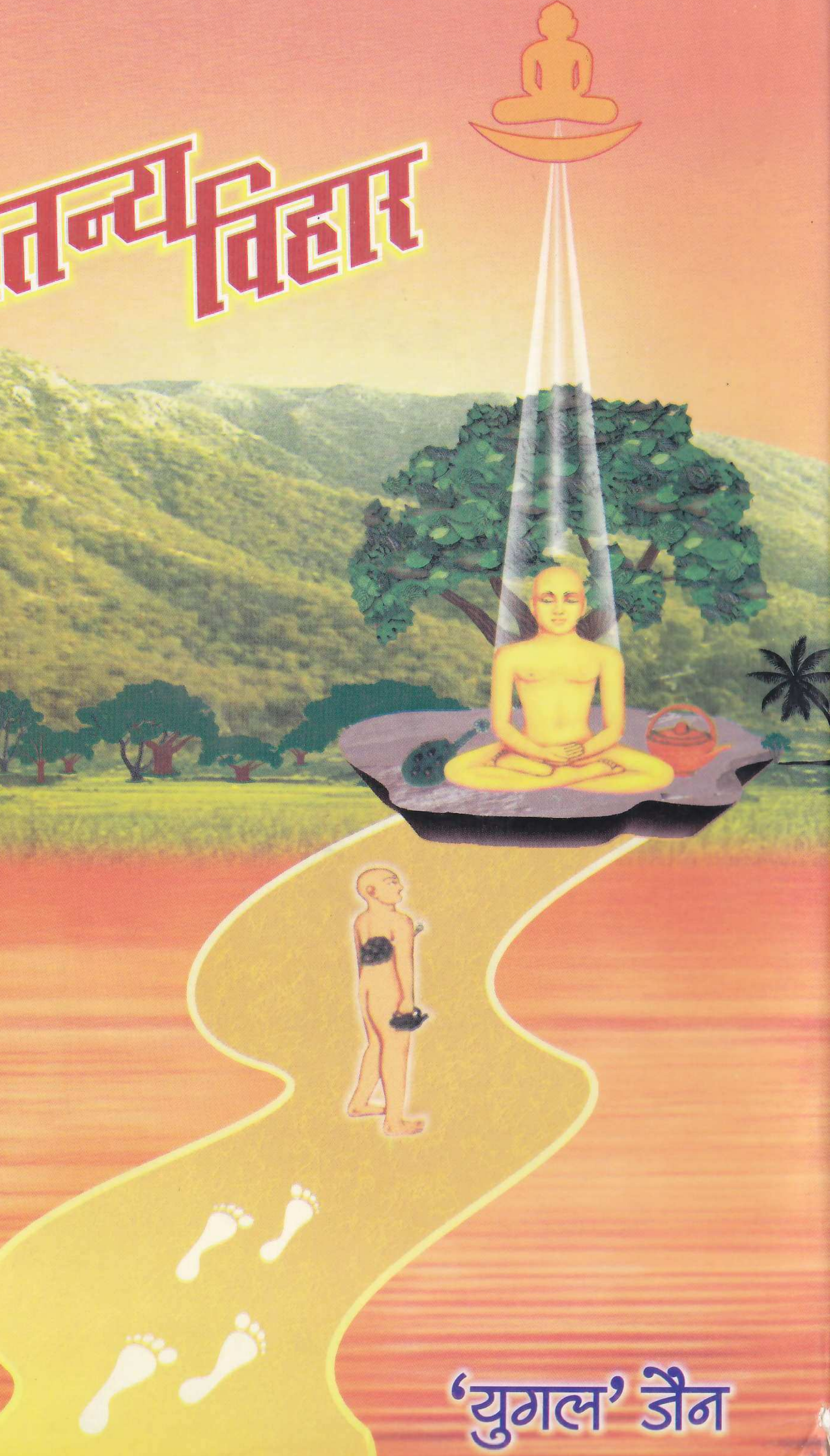

'युगल' जैन

जुगल किशोर 'युगल'
जन्मः 5 अप्रेल 1924
खुरी, जिला-बारां, (राज.)
शिक्षाः
एम.ए., साहित्यरत्न
पताः
85, आर्य समाज गली,
रामपुरा, कोटा-324006

ख्यातिप्राप्त दार्शनिक विद्वान श्री जुगलकिशोर 'युगल' को प्रसिद्ध देव-शास्त्र-गुरु पूजा लिखने के कारण समाज में वही स्थान प्राप्त है जो हिन्दी साहित्य में 'उसने कहा था' कहानी के लेखक पण्डित चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' को। 'युगल' जी उच्चकोटि के कवि, लेखक एवं ओजस्वी वक्ता हैं। 15 वर्ष की अल्पवय में ही आप में काव्य-प्रसून अंकुरित होने लगे थे। तब राष्ट्रीय चेतना एवं स्वतन्त्रता-संग्राम का युग था। युग के प्रवाह में इनकी काव्यधारा राष्ट्रीय रचनाओं से प्रारम्भ हुई। पारम्परिक धार्मिक संस्कार तो आप में बचपन से ही थे किन्तु उन्हें सम्यक् दिशा मिली इस युग के आध्यात्मिक क्रान्ति स्रष्टा श्री कानजीस्वामी से। स्वयं श्री 'युगल' जी के शब्दों में- 'गुरुदेव से ही मुझे जीवन एवं जीवनपथ मिला है।' युगलजी दर्शन को जीवन का समग्र स्वरुप मानते हैं और दर्शन की सर्वांग क्रियान्विति चैतन्य के साक्षात्कार में स्थापित करते हैं-

जो चेतन के भीतर झाँका, उसने जीवन देखा
बाकी ने तो खींची रे! परितप्त तटों पर रेखा

जनमानस में जैन दर्शन का साधारणीकरण आपके काव्य का मूल लक्ष्य है।

आप सफल गद्य एवं नाट्य-लेखक भी हैं। 'युगल' जी अखिल भारतीय स्तर के प्रवचनकार हैं और उनकी उपस्थिति धार्मिक आयोजनों का महत्त्वपूर्ण आकर्षण मानी जाती है।

" हे विश्व कवि मैं तुमको क्या अर्पण कर दूं
मेरी क्या हस्ती है, जो तुमको तर्पण कर दूं
तुम हो सूर्य गगन के, मैं कण माटी का
तुम ही सागर ज्ञान सिन्धु, मैं एक बिन्दु सा"

रुप सज्जाः नन्दन, कोटा फोनः 361501

ॐ

चैतन्य विहार

बाबू जुगलकिशोर 'युगल'
एम.ए., साहित्यरत्न
कोटा

आर्हत् साहित्य निधि 'तृतीय पुष्प'

प्रथमावृत्ति : 2100

ज्येष्ठ शुक्ल चतुर्दशी, दिनांक 23 जून, 2002

(जैन दर्शन एवं व्यक्तित्व विकास शिविर के पावन अवसर पर)

मूल्य : तीस रूपये मात्र

प्राप्ति स्थान :

- **अखिल भारतीय जैन युवा फेडरेशन**
  द्वारा-स्वास्तिक स्टेशनर्स एवं बुक सेलर
  रामपुरा बाजार, कोटा दूरभाष: 325524, 327809
- **पण्डित टोडरमल स्मारक भवन**
  ए-4, बापूनगर, जयपुर (राज.)
- **श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, कोटा**
  श्री पोरवाल दिगम्बर जैन मन्दिर, जैन गली
  रामपुरा, कोटा
- **आचार्य कुन्दकुन्द शिक्षण संस्थान ट्रस्ट**
  ए.304, पूनमअपार्टमेन्ट, वरली, मुम्बई-18

लेजर टाइप सेटिंग :
अजय कुमार गुप्ता
वेव कम्प्यूटर एवं प्रिन्टर,
गोरधनपुरा, कोटा-7

मुद्रक :
ज्योति प्रिन्टिंग प्रेस
रामपुरा बाजार
कोटा

प्रकाशक :

अखिल भारतीय जैन युवा फेडरेशन
कोटा (राज.)

सम्पादक :
पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन
बिजौलियां, जिला-भीलवाड़ा (राज.)

संकलन एवं संयोजन :
अजेय जैन, सी.ए., कोटा

सम्पादक मंडल :
सुशीलकुमार जैन
ब्र.नीलिमा जैन
चिन्मय जैन

★ साहित्य प्रकाशन हेतु सहयोग राशि प्रदाता ★

1.	गुप्तदान ह.कुन्दकुन्द प्रवचन प्रसारण संस्थान	21000/–
2.	श्री अरिदमन लालजी सा. कोटा परिवार द्वारा	11000/–
3.	गुप्तदान ह. कमलजी बोहरा, कोटा	11000/–
4.	स्व. श्री रामचन्द्रजी हरिशंकरजी दुगेरिया की स्मृति में	5001/–
5.	श्री जयकुमार जी जैन सा., दादाबाड़ी कोटा	5000/–
6.	श्री गम्भीरमलजी धनोप्या, विज्ञाननगर, कोटा	5000/–
7.	श्रीमति शान्तिदेवी जैन धर्मपत्नि श्री उत्सवचन्द जी बगड़ा	5000/–
8.	श्रीमति रजनी जैन धर्मपत्नि श्री सुरेन्द्रकुमार जी जैन	5000/–
9.	श्रीमति घीसीबाई धर्मपत्नि श्री राजमलजी भिण्डीवाले	5000/–
10.	श्री खानसिंह जी, इन्द्राविहार, कोटा	3100/–
11.	डॉ.श्री मानमल जी जैन, बल्लभबाड़ी, कोटा	1111/–
12.	श्री चौथमल जी जैन, बल्लभनगर, कोटा	1111/–
13.	श्री मूलचन्द दिनेशकुमार ठाई, दीपपुरा वाले, कोटा	1111/–
14.	श्रीमति लीला जैन धर्मपत्नि श्री तेजमलजी जैन, डाबीवाले	1100/–
15.	श्रीमति आशा जैन धर्मपत्नि श्री लाभचन्दजी, डाबीवाले	1100/–
16.	श्रीमति लाली जैन धर्मपत्नि श्री महावीरप्रसादजी,डाबीवाले	1100/–
17.	श्रीमति कविता जैन धर्मपत्नि श्री कैलाशचन्दजी, डाबीवाले	1100/–
18.	श्रीमति अर्चना जैन धर्मपत्नि श्री अनिलकुमारजी डाबीवाले	1100/–

प्रकाशकीय

न्यूनतम लेखन से अधिकतम प्रसिद्धि प्राप्त करने वाले वर्तमान विद्वानों में बाबू जुगलकिशोरजी 'युगल' अतिविशिष्ट हैं। जैन दर्शन का तलस्पर्शी ज्ञान, दार्शनिक सिद्धान्तों की सुस्पष्ट धारणा, भाषा व भावों पर सम्पूर्ण अधिकार के साथ लिखी उनकी दो पूजायें "देव-शास्त्र-गुरु व सिद्ध पूजन" सारे जैन समाज में समादरणीय हुई हैं। जिसका प्रमाण हजारों लोगों को उनका कण्ठस्थ होना है। समय-समय पर उन्होंने अन्य भी गद्य-पद्य रचनायें लिखी हैं जो सीमित जनों तक ही पहुँची। मुमुक्षु जनों की दीर्घ काल से भावना थी कि उनकी सभी रचनायें उपलब्ध हों और वे जैन तत्वज्ञान की सच्ची समझ में सद्निमित्त बनें। इस निमित्त अनेक स्थलों पर अनेक प्रयास हुए परन्तु उनकी रचनाओं का संग्रह गद्य या पद्य किसी भी रूप में प्रकाशित होने का योग नहीं बन पाया।

हमारे पुण्योदय से इस वर्ष अखिल भारतीय जैन दर्शन एवं व्यक्तित्व विकास शिविर के कोटा में आयोजन का प्रसंग बना। उत्कट भावना ने उत्कट प्रयासों को जन्म दिया। उनकी पद्य व गद्य रचनाओं को अलग-अलग पुस्तकों क्रमशः "चैतन्य वाटिका" व **"चैतन्य विहार"** नाम देकर जिज्ञासु मुमुक्षुजनों को समर्पित करते हुए हमें अत्यन्त हर्ष है। उनकी ये रचनायें जैन धर्म के मूल स्वरूप को हृदयंगम करके मोक्षमार्ग आरोहण में सद् निमित्त बने यही हमारी भावना है- हमारे इस किंचित प्रयत्न की सार्थकता है।

आर्हत् साहित्य निधि के तृतीय पुष्प के रूप में आदरणीय बाबू युगल जी के लेखों का यह संकलन **"चैतन्य विहार"** जैन तत्व के सूक्ष्म रहस्यों का उद्घाटन है, भाषा एवं भावों की अभिव्यक्ति की प्रौढ़ता का दिग्दर्शन है और शुद्ध आत्मतत्व 'चैतन्य' की धुन से सारी रचनायें आप्लावित हैं।

"चैतन्य विहार" के रूप में बाबू जी की गद्यात्मक रचनाओं के संकलन की परिकल्पना, संकलन एवं संयोजन का श्रम साध्य कार्य हमारे युवा साथी श्री अजेय जैन चार्टर्ड एकाउन्टेन्ट के अथक प्रयासों से एक माह के अल्पसमय में सम्भव हुआ। पं० देवेन्द्रकुमारजी बिजौलियाँ ने इसके सम्पादन का दायित्व ग्रहण कर हमें अनुग्रहीत किया, उसके लिए हम व्यक्तिगत रूप से उनके और आचार्य कुन्दकुन्द शिक्षण संस्थान ट्रस्ट, मुम्बई के आभारी हैं। पं० देवैन्द्र कुमार जी बिजौलियाँ अध्यात्म के प्रख्यात विद्वान व प्रवचनकार हैं, उन्होंने पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचनों के हिन्दी अनुवाद व सम्पादन का श्रम साध्य कार्य भी सम्भाला हुआ है।

सामग्री के संकलन एवं यथा संभव शुद्ध मुद्रण के कार्य में डॉ. मानमल जी जैन, प्राध्यापक श्री सुशील कुमार जैन, ब्र.नीलिमा जैन एवं श्री सुरेन्द्रकुमार जैन का महत्वपूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है, उनके प्रति धन्यवाद ज्ञापित करते हैं।

जैनदर्शन एवं व्यक्तित्व विकास शिविर के मंगलप्रसंग पर इस कृति के प्रकाशन की प्रेरणा और वित्तीय साधन जुटाने के भार से हमें मुक्त रखने के लिए हम कुन्दकुन्द शिक्षण केन्द्र ट्रस्ट और दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल कोटा के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं। इस ग्रन्थ के प्रकाशन की योजना मुमुक्षु समाज के समक्ष रखते ही तत्काल कम से कम मूल्य पर इसे उपलब्ध कराने हेतु आर्थिक सहयोग के वचन प्राप्त होने लगे, सहयोग कर्ताओं की सूची पुस्तक के अन्त में प्रकाशित की जा रही है। हम उन सभी सहयोग कर्ताओं के आभारी हैं।

आदरणीय बाबूजी का चिन्तन व लेखन अत्यन्त गहन है, किन्तु हमारी अल्पज्ञता के कारण कोई मुद्रण सम्बन्धी अशुद्धि रही हो तो हम उसके लिए क्षमाप्रार्थी हैं।

इस ग्रन्थ की सुन्दर एवं शुद्ध लेजर टाइप सेटिंग का कार्य श्री अजयजी गुप्ता मैसर्स वेव कम्प्यूटर कोटा द्वारा किया गया है एवं सुन्दर मुद्रण का श्रेय ज्योति प्रिन्टिग प्रेस, कोटा को जाता है।

इनके अतिरिक्त इस मंगलकार्य में प्रत्यक्ष एवं परोक्षरूप में सहयोग करने वाले सभी सज्जनों के प्रति हम हृदय से आभारी हैं। विशेष रूप से श्री ज्ञानचन्द जी जैन अध्यक्ष दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल कोटा के आभारी है जिन्होंने इस पुस्तक के प्रकाशन में समय-समय पर सहयोग प्रदान किया।

अधिकाधिक जिज्ञासु आदरणीय बाबूजी के गहन, गम्भीर एवं स्पष्ट तात्विक चिन्तन को हृदयंगम कर अपना जीवन सफल बनायें, इसी भावना के साथ प्रस्तुत प्रकाशन पाठकों को समर्पित है.........

जिनेन्द्र कुमार जैन
मंत्री
दिनांक 23 जून, 2002 **अखिल भारतीय जैन युवा फेडरेशन**
शाखा-कोटा (राज.)

सम्पादकीय

अध्यात्म मनीषी बाबू जुगलकिशोरजी 'युगल', कोटा से सम्पूर्ण तत्वप्रेमी समाज सुपरिचित है। 'केवल रवि किरणों से . ...' जैसी अलभ्य काव्यकृति के प्रणेता आदरणीय 'बाबूजी' सचमुच अध्यात्म जगत की एक निधि हैं, जिनसे जैन जगत गौरवान्वित है। स्वभाव से अत्यन्त कोमल, किन्तु सिद्धान्तों के प्रति अचलमेरु सम व्यक्तित्व के धनी बाबूजी जैन तत्वज्ञान के गहन चिन्तक, सफल काव्यविद, ओजस्वी प्रवचनकार एवं वात्सल्य से ओत-प्रोत महान् तत्वज्ञ हैं। अत्यन्त सरल किन्तु सुदृढ़ साहित्यिक भाषा में जैन तत्वज्ञान का विवेचन/ लेखन आपकी मौलिक विशेषता है जो श्रोता/पाठक के हृदय में व्याप्त चिर अज्ञानतम की परतों को उधेड़ते हुए उसे शुद्ध चिद्रूप की मंगलमय अनुभूति के सुरम्य आलोक से आलोकित करने में सक्षम है। अध्यात्म जैसा रूक्ष विषय भी आपकी वाणी/लेखनी का सहचार पाकर मधुर अमृत के समान बनकर चैतन्य परिणति को परितृप्त कर देता है।

आप इस युग के सर्वश्रेष्ठ अध्यात्म वेत्ता **चैतन्य विहारी** पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के अनन्यतम शिष्य हैं। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि पूज्य गुरुदेवश्री के तत्वज्ञान का एक-एक सूत्र आज आपके अन्तस्तल में जीवंत है और अध्यात्म पिपासुओं को गुरुदेव श्री के विरह का आभास नहीं होने देता। आप गुरुदेवश्री को जीवन और जीवन पथ प्रदाता मानते हैं। स्वयं आपके शब्दों में 'गुरुदेव से ही मुझे जीवन और जीवन पथ मिला है।' तथा

"श्री कानजीस्वामी इस युग के एक शुद्ध आध्यात्मिक क्रान्तिदृष्टा पुरुष हैं। उन्होंने जिस क्रान्ति का सूत्रपात किया, ऐसी क्रान्ति पहिले शताब्दियों में भी नहीं हुई। जैन-लोक-जीवन की श्वासें, रूढ़ि, अन्धविश्वास, पाखंड एवं कोरे कर्मकांड की कारा में घुट रही थीं। इसके आगे धर्म कोई वस्तु ही नहीं रह गया था। इन महापुरुष ने शुद्ध जिनागम का मन्थन कर इन जीवन-विरोधी तत्त्वों को अधर्म घोषित किया और इस निकृष्ट युग में शुद्ध आत्म-धर्म की प्राण-प्रतिष्ठा की।" (1)

"सौराष्ट्र के सन्त ने भव के अन्त के लिए 'ध्रुव' का यह मंगलसूत्र लोक को दिया। उन्होंने सम्यग्दर्शन के जिस स्वरूप का अनुसंधान किया वह इस युग का एक आश्चर्य है। सम्यग्दर्शन के इस सूक्ष्म एवं अद्भुतस्वरूप का इस युग को स्वप्न भी नहीं था। वास्तव में श्री कानजीस्वामी इस युग में सम्यग्दर्शन के आविष्कर्त्ता हैं और यह भवान्तक सम्यग्दर्शन इस युग को उनका सबसे महान वरदान है। उसके स्वरूप का बोध उनके बिना सम्भवित नहीं था।" (2)

लोकेषणा से दूर आपका सहज, सरल एवं निश्छल व्यक्तित्व; साधर्मी वात्सल्य, विषमतम परिस्थितियों में दूरदर्शी निर्णय की क्षमता, अध्यात्म के साथ-साथ भक्तिरस से अभिसिंचित हृदय,

---

(1) इसी पुस्तक से पेज न०-13, (2) इसी पुस्तक से पेज न०-38

विलासितामुक्त जीवनचर्या, असीम शारीरिक स्वास्थ्य की प्रतिकूलता के मध्य भी तत्वज्ञान की अविराम चिंतनधारा आपके जीवन की अनुकरणीय विशेषतायें हैं।

आपका लेखन बहुआयामी है। आपने जहाँ अध्यात्म के उत्कर्ष को स्पर्श किया है वहीं भक्तिरस एवं सदाचार भी आपकी लेखनी व वाणी में अछूते नहीं रहे हैं।

यद्यपि आप अध्यात्म को जीवन प्राण-जीवन तत्व मानते हैं; तथापि अध्यात्म का अतिरेक आपको सह्य नहीं है। अध्यात्म के अतिरेक में जिनभक्ति की पावन परम्पराओं में समागत विकृतियों एवं दूषित आचार प्रवृत्ति के आप कट्टर विरोधी हैं।

आप तत्वज्ञान को एक अनूठी जीवन-कला मानते हैं और उसे ही जीवन का मूलाधार भी, स्वयं आपके शब्दों में-

"तत्व-ज्ञान सर्व समस्याओं के समाधान की एक अद्भुत जीवन कला है। वही जीवन का सर्व प्रथम कर्म और सर्वप्रथम धर्म है। उसके बिना जीवन असीम वैभव के बीच भी दरिद्री और अशांत है और उसके प्रादुर्भाव में सर्व जागतिक वैभव के बिना भी वह अकेला ही परमेश्वर है।" (3)

सम्यग्दर्शन के स्वरूप एवं विषय के सम्बन्ध में आपका अत्यन्त ही हृदयग्राही चिंतन इसी ग्रन्थ में प्रस्फुटित हुआ है

"ध्रुव तत्त्व" श्रद्धा के लिये मुख्य तत्त्व नहीं वरन् वह उसका सर्वस्व ही है। इसीलिये सम्यग्दर्शन स्वयं अपने को मिटाकर ध्रुव का दर्शन करता है। वह अपने को 'गौण' की कक्षा में भी नहीं रखता। वास्तव में अपने को बचाकर श्रद्धेय को अपना समर्पण करने की वार्ता तो एकदम छल एवं छद्म है। स्वयं को मिटाये बिना समर्पण का स्वरूप ही नहीं बन सकता। इसीलिये सम्यग्दर्शन की दुनिया में सम्यग्दर्शन संज्ञावाली कोई वस्तु ही नहीं है। (4)

और तो और, सम्यग्दर्शन के घर में स्वयं सम्यग्दर्शन के रहने के लिए भी कोई जगह नहीं है। उसने अपना कोना-कोना ध्रुव के लिए खाली कर दिया है। (5)

सम्यग्चारित्र के संदर्भ में आपने कहा-

"चारित्र न तो घरबार आदि बाह्य संयोगों का वियोग मात्र है और न कर्मकाण्ड की छलांगें, न कोरा नग्नत्व ही चारित्र है और न महाव्रत, समिति आदि का पराश्रित शुभाचार। उपसर्ग एवं भयंकर कायक्लेश भी नहीं, वरन् स्वरूप में अन्तर्लीन आनन्द वृत्ति ही चारित्र है।" (6)

"शुभाचार जो मात्र मंद कषाय की ही पर्याय है उसे चारित्र मानना तो मिथ्यादर्शन है ही किन्तु वीतराग चारित्र के अनिवार्य सहचर शुभाचार का सत्व ही स्वीकार न करना भी समान कोटि का मिथ्यादर्शन ही है।" (7)

आज के बहुचर्चित विषय - 'ज्ञान की स्व-पर प्रकाशकता' पर बाबूजी का चिंतन एमदम स्पष्ट है और वह आज का नया नहीं, वरन् गुरुदेवश्री की उपस्थिति में आत्मधर्म में भी प्रकाशित हो चुका है। ज्ञान की इस अद्भुत व्यवस्था के संदर्भ में आपके निम्न विचार अनुशीलन योग्य हैं-

---

(3) इसी पुस्तक से पेज न०-3

(4) इसी पुस्तक से पेज न०-30, (5) इसी पुस्तक से पेज न०-32
(6) इसी पुस्तक से पेज न०-35 (7) इसी पुस्तक से पेज न०-36

दर्पण के समान ज्ञान की वस्तु को जानने की रीति यह है कि वह सदा एकरूप अखण्डस्वरूप को सुरक्षित रखकर ज्ञेयाकार (ज्ञेय जैसे आकार) परिणति होता रहता है। ज्ञेयाकार (ज्ञानाकार) परिणति ज्ञान का विशेष भाव है और उस ज्ञेयाकार परिणति में ज्ञानत्व का अन्वय उसका सामान्यभाव है। जैसे दर्पण अपने स्वच्छ स्वभाव से वस्तुओं को अपने में प्रतिबिंबित करता है। दर्पण में वस्तुओं के अनेक आकार-प्रकार बनते-बिगड़ते रहते हैं किन्तु दर्पण प्रत्येक परिवर्तन में अक्षुण्ण रहता है। वस्तुओं के अनेक आकार-प्रकार के संगठन एवं विघटन में दर्पण की एकरूपता अप्रभावित रहती है। साथ ही उन आकार-प्रकारों से दर्पण की स्वच्छता को आँच नहीं आती। [8]

दर्पण के समान ज्ञान भी ज्ञेय से अत्यंत निरपेक्ष रहकर अपने ज्ञेयाकार (ज्ञानाकार) का उत्पाद-व्यय करता है। ज्ञान में ज्ञेय या ज्ञेयाकार के इस अभाव को ज्ञान का 'अतत्' स्वभाव कहते हैं और अनेक ज्ञेयों के आकार परिणमित होकर भी प्रत्येक ज्ञेयाकार (ज्ञानाकार) में ज्ञानत्व की धारावाहिकता कभी भंग नहीं होती। अर्थात् ज्ञान के प्रत्येक ज्ञेयाकार (ज्ञानाकार) में ज्ञान सामान्य का अन्वय अखण्ड तथा अपरिवर्तित है। ज्ञान के प्रत्येक ज्ञेयाकार में ज्ञान ही प्रतिध्वनित होता है, इसे आगम में ज्ञान का 'तत्' स्वभाव कहा है। अपने में अनन्त लोकालोक रूप चित्र-विचित्र ज्ञेयाकार नियत समय में उत्पादन करने में ज्ञान अत्यंत स्वतन्त्र है। इसमें उसे लोकालोक की कोई अपेक्षा नहीं है।

(8) इसी पुस्तक से पेज न0-43

न उसे लोक से कुछ लेना पड़ता है और न कुछ देना पड़ता है। "ज्ञान में जो लोकालोक प्रतिबिंबित होता है, ज्ञान के उस ज्ञेय जैसे आकार की रचना ज्ञान की उपादान सामग्री से होती है। लोकालोकरूप निमित्त की उसमें रंच भी कारणता नहीं है। अतः ज्ञान लोकालोक को जानता है यह कथन व्यवहार ही है, वास्तव में ज्ञान ज्ञेयोन्मुख न होकर स्वतंत्र रूप से अपने ज्ञेयाकारों को ही जानता है।" [9]

जैनाध्यात्म के गहन विषयों के अनुशीलन के साथ-साथ आपकी लेखनी से पूजा, अहिंसा एवं अपरिग्रह जैसे चरणानुयोग परक विषयों का भी पर्याप्त सृजन हुआ हे।

आप मानते हैं कि 'तत्वज्ञान का चिंतन भक्ति की कोमल धारा का उल्लंघन करके नहीं होता।'

जैन दर्शन के इन महत्वपूर्ण विषयों पर गहनतम अनुचिंतन के अतिरिक्त आपने साहित्य एवं साहित्यकारों के संदर्भ में भी अपनी लेखनी का प्रयोग करते हुए कई महत्वपूर्ण तथ्यों का उद्घाटन किया है जो पण्डित टोडरमल, मोक्षमार्ग प्रकाशक एक अध्ययन, महाकवि बनारसीदास एवं उनका साहित्यिक मूल्यांकन आदि लेखों के सम्यक् अनुशीलन से जाने जा सकते हैं।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि प्रस्तुत कृति आदरणीय बाबूजी का एक ऐसा दस्तावेज है जो उनके अनन्त ज्ञान समुद्र का सर्वतः प्रतिनिधित्व करता है।

इनके प्रकाशन की सुदीर्घकालीन भावना आज साकार हो

(9) इसी पुस्तक से पेज न0-46

रही है यह अत्यन्त प्रसन्नता का विषय है।

इस सम्पूर्ण कार्य सम्पादन में मुझे ब्र. नीलिमा जैन एवं ब्र. सुमन जैन का सहयोग प्रकाशन सामग्री उपलब्ध कराने के रूप में प्राप्त हुआ है। साथ ही श्री अजेय जैन, चार्टर्ड एकाउन्टेन्ट ने काफी परिश्रम पूर्वक इस कार्य को गति दी है, इनके बिना यह कार्य इतने अल्पसमय में हो पाना संभव नहीं था। डॉ.मानमल जैन, प्राध्यापक सुशील जैन, सुरेन्द्र जैन एवं ब्र. नीलिमा जैन ने प्रूफ संशोधन आदि में अतिशय श्रम पूर्वक सहयोग प्रदान किया एवं अखिल भारतीय जैन युवा फेडरेशन कोटा, दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल कोटा, श्री कुन्दकुन्द शिक्षण केन्द्र ट्रस्ट कोटा एवं वीर वनिता संघ कोटा के सदस्यगण ने इस प्रशस्त कार्य को सम्पन्न करने का अवसर एवं उत्साह प्रदान किया। तदर्थ सभी का आभारी हूँ।

आदरणीय बाबूजी का ही इसमें सबकुछ है अतः जो भी विशेषतायें हैं वे पूज्य बाबूजी की हैं और कमियों का जिम्मेदार मैं हूँ। इसलिये सुधी पाठकों से यह आग्रह है कि यदि किसी प्रकार की त्रुटि दृष्टिगोचर हो तो सूचित करने का अनुग्रह करें।

दिनांक: 23 जून, 2002

देवेन्द्रकुमार जैन
गुरुकहान मार्केट
बिजौलियाँ, जिला–भीलवाड़ा

प्रस्तावना

जैन दर्शन विश्व के सभी दर्शनों से एक निराला दर्शन है क्योंकि वह अनादि अनंत, अकृत एवं स्वयंसिद्ध वस्तु–व्यवस्था की वज्र चट्टान पर खड़ा है। कालचक्र के अनंत प्रवाह में इस दर्शन के प्रणेता तीर्थंकर आदि महापुरुषों से लेकर अनेक आचार्य एवं आत्मवेत्ता अगणित ज्ञानी पुरुष हुए हैं, जिन्होंने समय–समय पर इस दर्शन का तत्वगर्भित प्रतिपादन किया है। इसी प्रवाह में बींसवीं सदी में इस दर्शन के सिद्धान्त वेत्ता अध्यात्मिक महापुरुष पू. गुरुदेव श्री कानजीस्वामी हुए है, जिनकी दिव्यवाणी से लाखों लोगों को जैन दर्शन के रहस्य उपलब्ध हुए हैं।

मेरी काव्य कृति **'चैतन्य वाटिका'** की तरह इस लेखमाला **'चैतन्य विहार'** का भी सम्पूर्ण श्रेय पू0 गुरुदेव श्री कानजीस्वामी को ही है। जैन दर्शन के सैद्धान्तिक एवं आध्यात्मिक विषयों का बोध मुझे तब हुआ, जब मैं सन् 1950 में श्रावणमास के शुक्ल पक्ष में कोटा के अध्यात्म विधाता स्व. पू0 बाबू ज्ञानचंद जी सा. के साथ पहली बार सोनगढ़ पू0 गुरुदेव श्री के चरणों में पहुँचा और उनकी दिव्य वाणी सुनी वह वाणी सुनकर मेरा कायापलट हो गया और मेरी सर्व मिथ्या आस्थाओं का अंत हो गया।

इस लेखमाला के सभी लेख जिनागम सम्मत हैं, और उनमें संदेह का किंचित् भी अवकाश नहीं है।

इस संग्रह के दो लेखों के विषय काफी गंभीर एवं आत्महितंकर हैं– एक 'पू0 गुरुदेव का जीवन दर्शन' एवं दूसरा

'ज्ञानस्वभाव'। ये लेख पू0 गुरुदेव ने स्वयं देखकर प्रमाणित किये हैं और गुजराती आत्मधर्म में भी प्रकाशित किये गये हैं। पू0 गुरुदेव के जीवन-दर्शन के लेख में पू0 गुरुदेव के प्रमुख एवं प्रिय विषय 'सम्यग्दर्शन' का विशद एवं सर्वांग विवेचन किया गया है एवं सम्यग्दर्शन के सम्बन्ध में इतने सटीक एवं मार्मिक कथन किये गये हैं कि "सम्यग्दर्शन वास्तव में ध्रुव का अहं नहीं वरन स्वयं ध्रुव है एवं उसने अपना कोना-कोना ध्रुव के लिए खाली कर दिया है।"

इसी प्रकार ज्ञान स्वभाव लेख में सम्यग्ज्ञान के एक महत्वपूर्ण प्रयोजनभूत एवं चर्चित पहलू स्व-पर प्रकाशक का आगम सम्मत, सुबोध एवं बुद्धिगम्य विवेचन है जिसमें युक्तिपूर्वक यह सिद्ध किया गया है कि 'मैं पर पदार्थ को जानता हूँ अथवा मेरे ज्ञान में पर जानने में आता है' इसे मिथ्यादर्शन घोषित किया गया है क्योंकि ये व्यवहार वचन है और व्यवहार वचन अथवा नय श्रद्धेय नहीं है, उसकी श्रद्धा स्पष्ट मिथ्यादर्शन है। इस प्रकरण की साक्षी समयसार की 270 गाथा एवं समयसार के 271 कलश की विद्वान श्री राजमलजी कृत कलश टीका है। आगम में अनेक स्थलों पर इस कथन की पुष्टि उपलब्ध होती है, इससे आत्मा की स्व-पर प्रकाशक शक्ति के स्वरूप में कोई बाधा नहीं आती।

इस संकलन में एक प्रमुख विशद लेख 'महाकवि बनारसीदास एवं उनका साहित्यिक मूल्यांकन' समाहित है जिसमें महाकवि बनारसीदास को हिन्दी साहित्य के शीर्ष कवि तुलसी, सूर, कबीर, जायसी, मीरा आदि के समकक्ष स्थापित किया है। सचमुच जैन धर्मावलम्बी होने से सांप्रदायिक विद्वेष के कारण बनारसीदास को हिन्दी साहित्य से उपेक्षित रक्खा गया, मात्र हिन्दी साहित्य में उनका अर्धकथानक बहुचर्चित है और हिन्दी के आधुनिक श्रेष्ठ साहित्यकार भी उसे हिन्दी साहित्य का प्रथम एवं सर्वश्रेष्ठ आत्मकथानक स्वीकार करते है। फिर भी बनारसीदास के आध्यात्मिक एवं अन्य विशाल काव्य भंडार को जैन धार्मिक होने के कारण हिन्दी साहित्य से अछूता रखा गया। निष्पक्ष आधुनिक साहित्यकारों का कथन है कि यदि धर्म के कारण ही किसी साहित्यकार को साहित्य से वंचित रखा गया तो सूर, तुलसी, कबीर, जायसी जैसे धार्मिक भक्त कवि सभी साहित्य की परिधि में प्रवेश नहीं पा सकेगें। जैसे इन भक्त कवियों ने अपने काव्य के द्वारा एकेश्वरवाद के आधार पर सगुण एवं निर्गुण धाराओं में समाज को मुक्तिमार्ग दिये, उसी प्रकार अध्यात्म कवि बनारसीदास ने अपनी अध्यात्म धारा में अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मद्रव्य के अवलंबन पर पूर्ण स्वाधीन एवं सारे जगत से विलक्षण मुक्ति मार्ग हिन्दी साहित्य को दिया जो हिन्दी साहित्य कोष की एक मूल्यवान निधी है। इसी रूप में एक अनूठा एवं विशाल आध्यात्मिक कोष भी महाकवि बनारसीदास से हिन्दी साहित्य को उपलब्ध है, जिससे हिन्दी साहित्य जगत का काव्य कोष भी काफी समृद्ध एवं उपकृत होगा।

महाकवि बनारसीदास ने अपनी एक हजार दोहा, चौपाई की श्रंगार रचना नवरस पदावली उसके भयंकर दोषों का विचार करके गोमती नदी में प्रवाहित कर दी, यह भी उनके उदात्त एवं आदर्श चरित्र का एक ज्वलंत प्रमाण है। निष्पक्ष होने के कारण राजस्थान विश्वविद्यालय ने भी अपने पाठ्यक्रम में इस लेख

को स्वीकार किया है और वहां से मांग आने पर इसकी अनेक प्रतियां भी विश्वविद्यालय को पहुँचाई गई है।

इसी प्रकार इस संकलन में संगृहीत तत्वज्ञान–जीवन की एक अनूठी कला, मोक्षमार्गप्रकाशक–एक अध्ययन, महावीर का अनैकान्तिक अहिंसा दर्शन आदि अन्य विषय भी हमें जैन तत्वज्ञान की दिशा में पावन आलोक प्रदान करेंगे ऐसा विश्वास है।

मेरे इन बिखरे हुये विषयों की प्रतिलिपि करके उन्हें सुरक्षित रखने में मेरी सुपुत्री ब्र. नीलिमा को ही एक मात्र श्रेय है। साथ ही जैन युवा फेडरेशन कोटा के कर्मठ एवं उत्साही सदस्यों ने मेरे काव्य संग्रह चैतन्य वाटिका के साथ इस लेखमाला को त्वरा से प्रकाशित करने में रात्रि–दिवस जो अथक श्रम किया है तदर्थ मैं उन सभी का अत्यन्त आभारी हूँ।

'युगल'

अनुक्रमणिका

1. तत्व–ज्ञान : एक अनूठी जीवन कला 3
2. पूज्य गुरुदेवश्री कानजी स्वामी एवं उनका जीवन दर्शन 11
3. ज्ञान–स्वभाव 41
4. चार अभाव 57
5. जिनेन्द्र पूजन : स्वरूप एवं समीक्षा 65
6. शुद्ध चेतन–तत्व की उपासना : दस लक्षण धर्म 118
7. महावीर का अनैकान्तिक अहिंसा दर्शन 124
8. अपरिग्रह – एक अनुचिंतन 139
9. महाकवि बनारसीदास एवं उनका साहित्यिक मूल्यांकन 158
10. एक महान व्यक्तित्व आचार्यकल्प पण्डित टोडरमल 202
11. मोक्षमार्गप्रकाशक : एक अध्ययन 209
12. सर्वोदयी युगनेता 241
13. भरत – बाहुबली (नाटक) 249

- नमः सिद्धेभ्यः -

चैतन्य विहार

मंगलाचरण

आर्हत्-वंदना

तुम चिरंतन, मैं लघुक्षण
लक्ष वंदन, कोटि वंदन !
तुम चिरंतन
मैं लघुक्षण
जागरण तुम
मैं सुषुप्ति
दिव्यतम आलोक हो प्रभु
मैं तमिस्रा हूँ अमा की
क्षीण अन्तर, क्षीण तन मन
शोध तुम
प्रतिशोध रे! मैं
क्षुद्र-बिन्दु
विराट हो तुम
अज्ञ मैं पामर अधमतम
सर्व जग के विज्ञ हो तुम
देव! मैं विक्षिप्त उन्मन्

चेतना के
एक शाश्वत
मधु मदिर
उच्छ्वास ही हो
पूर्ण हो पर अज्ञ को तो
एक लघु प्रतिभास ही हो
दिव्य कांचन, मैं अकिंचन
व्याधि मैं
उपचार अनुपम
नाश मैं
अविनाश हो रे!
पार तुम, मँझधार हूँ मैं
नाव मैं, पतवार हो रे !
मैं समय, तुम सार अर्हन् !

तत्व-ज्ञान : एक अनूठी जीवन कला

सर्व विद्याओं में अध्यात्म-विद्या का स्थान सर्वोपरि है क्योंकि अध्यात्म-विद्या के अतिरिक्त अन्य किसी भी लोक विद्या के पास आत्मा के स्थायी सुख की कोई गारन्टी नहीं है। लोक विद्या से प्राप्त समस्त सन्निधियां आत्मा की परिधि से बाहर होने से आत्मा को उनका उपभोग होता ही नहीं है। अतः उनके पास आत्म-शांति का कोई विधान नहीं है। आत्मशांति अध्यात्म-विद्या का सर्वाधिकार सुरक्षित अधिकार है और उस अध्यात्म-विद्या की साधना का प्रारम्भ तत्व-ज्ञान से होता है।

तत्व-ज्ञान सर्व समस्याओं के समाधान की एक अद्‌भुत जीवन कला है। वही जीवन का सर्व प्रथम कर्म और सर्वप्रथम धर्म है। उसके बिना जीवन असीम वैभव के बीच भी दरिद्री और अशांत है और उसके प्रादुर्भाव में सर्व जागतिक वैभव के बिना भी वह अकेला ही परमेश्वर है।

तत्व-ज्ञान वस्तु-दर्शन की एक अलौकिक पद्धति है। वह लोक-कथित वस्तु-विधानों का विश्वासी नहीं है। पदार्थों में पारस्परिक सम्बन्धों की लोक-रूढ़ कहानी तत्व ज्ञान को सम्मत नहीं है। वह उस लोक-वार्ता को असत्य घोषित

करता है जहाँ दो पदार्थो में किंचित् भी सम्बन्ध घटित किया गया हो। वस्तु के साथ संयुक्त से दिखाई देने वाले दीर्घकाय संयोगों तक सीमित न रहकर वह वस्तु की थाह लेता है। उसका अनुसंधान अति सूक्ष्म एवं गम्भीर है। वह ऐसा गोता खोर है जो सागर के घनत्वों को तब तक वेधता जाता है जब तक उसे सीपी के संपुट में मोती उपलब्ध नहीं होता।

तत्व-ज्ञान का सम्पूर्ण विधान आत्मा के लिये है। वस्तुतः वह आत्मा की ही परिशुद्ध बोधावस्था है। वह आत्मा के अनन्त कष्टों के कारणों का निदान कर जीवन के शांति निकेतन का उद्घाटन करता है। वह कहता है कि आत्मा सदा ही अविनाश, अनन्त शान्ति का निधान, परम वीतराग, सबसे अलग-थलग, अनंत शक्ति पुंज एक सम्पूर्ण चैतन्य सत्ता है। अनंत महिमावंत वस्तु होने पर भी आत्मा को सदा से ही अपने गौरव की प्रतीति एवं बोध नहीं है वरन् अनादि से ही वह देह और देह के परिकर अगणित जड़-स्कंधों में अपनी प्राण प्रतिष्ठा करता रहा है। वस्तु व्यवस्था के आलोक में जब आत्मा की इस प्रवृति की मीमांसा की जाती है तो वह अपराधिनी सिद्ध होती है। क्योंकि कण-कण की स्वाधीनता में व्यवस्थित विश्व को यह बहुत बड़ी चुनौती है, कुदरत की सत्ताओं को अपने तंत्र में लेकर निगलने का यह सर्व महान् अपराध है; अतः दण्डनीय है। किन्तु अपने इस प्रयास में आत्मा कभी भी कृत-कार्य नहीं होता क्योंकि पर सत्ताओं में उसके हस्तक्षेप की चरितार्थता कभी भी संभव नहीं हे। अतः विवशता की कारा में तड़फता ही रहता है।

आत्मा की अनंत कष्टावलियों के सम्बन्ध में तत्वज्ञान का यह त्रैकालिक निदान है और तत्व ज्ञान उनके सार्वभौमिक और सार्वकालिक परिहार का पथ भी निर्दिष्ट करता है। वह कहता है कि सुख और शांति आत्मा का स्वरूप ही है। अतः किसी अन्य पदार्थ एवं इन्द्रिय भोगों को उसका साधन मान कर संग्रह की चेष्टा करना मूर्खतापूर्ण अपराध है। इस विश्वास के कारण आत्म-वृत्ति एक अनाचारी पुरुष की तरह सदैव पर सत्ताओं में परिभ्रमण शील रहती है। अतः अपनी चैतन्य वाटिका की महिमा के अविराम चिंतन द्वारा भ्रमणशील चैतन्य वृत्तियों को आत्मस्थ करके स्वरूप सौन्दर्य का संवेदन करना ही मुक्ति का एक मात्र मार्ग है, दूसरा नहीं।

तत्व-दृष्टा को देह और उसके परिकर अगणित इन्द्रिय विषयों का सानिध्य भी रहता है। इनका कभी मनोवांछित परिणमन भी होता है और कभी परम प्रतिकूल भी, किन्तु परत्व बोध के बल से वह इन सभी परिस्थितियों में अप्रभावित रह लेता है।

इसी प्रकार अज्ञान के निमित्त से आत्मा के साथ संश्लिष्ट कर्म बन्धनों के प्रति भी तत्वज्ञ अत्यन्त मध्यस्थ हो जाता है क्योंकि जैसे एक समझदार अपराधी इस तथ्य को असंदिग्ध भाव से जानता है कि उसके बन्धन उसके पूर्व-कृत अपराधों के प्रतिफल मात्र हैं किन्तु अपराधों के कारण नहीं हैं; उसी प्रकार तत्वज्ञान की यह अत्यन्त निःशंक और स्पष्ट

मान्यता है कि कर्म बन्धनों का उसकी अशुद्धतम संसार दशा और शुद्धतम मोक्ष दशा के प्रति किंचित् भी कर्तृत्व नहीं है।

तत्वज्ञान तत्व-दर्शी की प्रयोगशाला है। वह आत्मा से संयुक्त विजातीय परतों का एक्सरे की रश्मियों की तरह तब तक बेधन करता जाता है जब तक उसे आनन्द-निधान चैतन्य के दर्शन नहीं होते। काया और कर्म की माया में तो उसके चरण अवरूद्ध होते ही नहीं हैं क्योंकि इनमें तो उसे चैतन्य का आभास भी नहीं होता; किन्तु राग-द्वेष एवं पुण्य-पाप जैसी आत्म-वृत्तियों में भी उसे चैतन्य का चिह्न नहीं मिलता क्योंकि पर के प्रति आकर्षणशील होने से वे अत्यन्त विकृत हैं, अतः उपादेय नहीं है। जैसे मलेरिया के मच्छर के संयोग में उत्पन्न मलेरिया ज्वर शरीर की पर्याय होने पर भी शरीर का स्वरूप नहीं है; इसी प्रकार कर्म की उदय दशा में उत्पन्न पुण्य-पाप की अवस्था आत्मा की पर्याय होने पर भी आत्मा का स्वरूप सौंदर्य नहीं है। और जैसे जिसकी शक्ति प्रबल है उसे मलेरिया मच्छर का योग ज्वर का निमित्त नहीं होता; इसी प्रकार जिसे अपनी चैतन्य सत्ता का सुदृढ़ अवलम्बन है उसे कर्मोदय विकार का निमित्त नहीं होता वरन् मात्र ज्ञेय कोटि में रहता है। यह तत्वज्ञान का सूक्ष्म अनुसंधान है। उसका मन्तव्य है कि भिन्न लक्षण वाले अनेक भाव एक साथ तो रह सकते हैं पर कभी भी एक नहीं हो जाते। दही के दीर्घ समुदाय में दही के कण-कण के साथ

मक्खन दही से भिन्न विद्यमान रहता है और वृंदावन की ग्वालिन भी उसे दही से अलग निकालने से पूर्व ही उसकी पूरी की पूरी प्रतीति में प्रवर्तमान है। किन्तु जैसे एक बालक को दही और मक्खन के भेद का परिज्ञान नहीं होता इसी प्रकार अज्ञानी को भी आत्मा और पुण्य-पाप के अंतर का बोध न होने से कभी पाप और कभी पुण्य की उपासना करता रहता है किन्तु तत्ववेदी पाप-पुण्य के विकार-पुंज में भी विकार से अत्यन्त भिन्न चैतन्य की अव्याहत प्रतीति में गतिमान रहता है।

तत्वज्ञान की शोध यहीं विराम नहीं ले लेती किन्तु पुण्य-पाप के आवरणों से आगे वह चैतन्य की खोज में और गहरी उतरती है और उसे चैतन्य जगत में ही क्षणिकाओं का एक अत्यन्त सुन्दर कक्ष दिखाई देता है जो अत्यन्त सुन्दर होने पर भी उसे इसलिए रमणीय नहीं लगता कि सागर की तरंग के सदृश वह सदा उपलब्ध रह सकने योग्य नहीं है, और सागर तो सदा उपलब्ध है। अतः क्षणिका का ममत्व भी एक मधुर उन्माद है जिसमें से निरंतर विकलता का ही स्राव होता है।

इसके अनन्तर चैतन्य का कपाट खुलता है और तत्वज्ञान को उसके असँख्य प्रदेशी सन्निवेश में अनन्त शक्तियों का मंगल-लोक दिखाई देता है जैसे चित्र विचित्र पुष्पों की वाटिका खिली हो। किन्तु तत्वज्ञान यहाँ काफी

सूक्ष्म एवं गंभीर हो जाता है क्योंकि चैतन्य की अनुभूति का यह अंतिमव्यवधान है। वह देखता है कि अनन्त के दर्शन में भी अनुभूति की तरलता समाप्त नहीं होती वरन् अनन्त शक्ति की इस चक्रीयता में भी सुहाती-सुहाती सी मंद-मंद विकलता ही निष्पक्ष होती है जिसका भेद सजग प्रज्ञ को ही प्रतिभासित होता है। अतः इस शक्ति सम्मोहन से भी अपराजित एवं अतृप्त तत्व-ज्ञान अपने पुरुषार्थ के अंतिम चरण में तूफानी त्वरा से परिणमित होता है और उसे अत्यन्त निस्तरंग अतल-चैतन्य का वह दिव्य-लोक दिखाई देता है जहाँ अनन्त ही शक्तियां एकत्व में एकीभूत हैं। यहाँ सर्व तरलताओं को विसर्जित करके अनुभूति ऐसी समाहित हो जाती है कि द्वैत ही दिखाई नहीं देता। शुद्ध चैतन्य की यह आनन्द-वेदना ही आर्हत्-दर्शन का प्रसिद्ध ब्रह्मानन्द है।

तत्व-ज्ञान जीवन एवं जगत की एक सर्वांग मीमांसा है। जीवन की एक भी समस्या ऐसी नहीं जिसका समाधान उसके पास न हो। यद्यपि अक्षय चैतन्य ही उसका एक मात्र अहं है और वह निरंतर वहीं स्थापित रहता है फिर भी क्षय के प्रति गतिमान अपने पर्याय दोषों का वह सजग प्रहरी है। चारित्रिक दौर्बल्य से प्रवर्तमान कोई दोष उसे उपेक्षित नहीं है। साथ ही वह निरन्तर दोषों से खिन्न एवं विह्वल भी नहीं है, तो सतत उनका चिन्तन शील भी नहीं है क्योंकि सर्व-दोष-निःशेष की अद्भुत कला उसे विदित है। वह

जानता है कि सतत् दोष का विचार व निरन्तर दोषों का भय दोष-मुक्ति का कोई उपाय नहीं है। उसका अत्यन्त स्पष्ट निर्णय है कि आत्मा में सर्व दोषों का जन्म एक मात्र स्वरूप-स्खलन से ही होता है। अतः स्वरूप-निष्ठा ही निर्दोष निर्वाण का एक मात्र साधन है।

पर्याय में व्याप्त दोष-समुदाय के साथ तत्वज्ञान को जीवन का एक वह पहलू भी दिखाई देता है जहाँ निरन्तर योग-वियोग आवर्तित होते रहते हैं। पापोदय की विभीषिकायें हों अथवा पुण्योदय की इन्द्रधनुषी छटायें, तत्वज्ञान इस रहस्य को बारीकी से जानता है कि ये सब उसकी सत्ता का स्पर्श ही नहीं करते। अतः पापोदय की भीषण हैरानी अथवा पुण्योदय का मधुर उन्माद उसकी प्रज्ञा को कभी आच्छादित करते ही नहीं हैं। जब अज्ञानी पाप एवं पुण्य का क्रीतदास होकर पदाघातों से कन्दुक की तरह दुर्दशाओं के चक्र से कभी मुक्त नहीं होता तब चैतन्य जीवी तत्व-दृष्टा ऐसी हर परिस्थिति में संतुलित एवं समवस्थ रहता है।

तत्व-ज्ञान गर्वोन्मत्त भोग मय जीवन के मृण्मय स्वरूप को खुली चुनौती है। चैतन्य के अस्तित्व में सन्देह कर जो मिट्टी के भोगों को ही जीवन का स्वरूप मानते हैं, देह एवं भोग की वियोग-चेतना से भट्टी में पड़े कीट की तरह जो निरंतर अतिशय वेदना से तड़फते हैं उन्हें तत्वज्ञान का संदेश है कि समस्त भोग संग्रह एवं संग्राहक भाव ठीक ऐसी ही

मिथ्या कल्पनायें हैं जैसे एक बालक मधुर विष पीता हुआ हँस रहा हो।

समग्र संयोग-वियोग की संततियों के संबंध में तत्वज्ञान का सुनिश्चित अभिमत है कि वे कभी भी आत्मा के पुरुषार्थ से निष्पन्न नहीं हैं। वे सभी दैव-साध्य हैं जिन्हें दृष्टि-शून्य अज्ञानी अपना संपादन मानता है, अतएव उसका संपूर्ण जीवन संयोगों की सुरक्षा में नष्ट हो जाता है जब तत्व-ज्ञान इनकी सीमा में अपनी व्यवस्था का भयंकर पाप नहीं करता अतएव हल्का-फुल्का समरसी जीवन जीता है।

तत्वज्ञान कषाय के शिखरों पर उल्का की तरह गिरता है। उसका उदय होते ही विभिन्न पापाचारों के वे रूप जो युग के साथ बदलते रहते हैं और जिनसे व्यक्ति के चरम पतन के साथ समष्टि की व्यापक चेतना भी अभिशप्त एवं आहत होती है, प्रयत्नों के बिना ही अनायास समाप्त होते है। हत्यायें, लूटपाट, कालाबाजार एवं रिश्वत जैसे राष्ट्रीय पाप एवं दहेज जैसा सामाजिक कुष्ठ जो चिकित्सा के साथ बढ़ता ही जाता है, तत्वज्ञान के उदय से पूर्व ही निःशेष हो जाते हैं। क्योंकि विशुद्ध मानस-भूमि में ही तत्वज्ञान का जन्म होता है। अतः पाप के असंख्य रूपों का प्रहारक तत्वज्ञान ही लोकशांति का सुनिश्चित विधाता है।

इस प्रकार सचमुच तत्व-ज्ञान चरम पतन से चरम उत्कर्ष तक ले जाने वाली जीवन की खुली पुस्तक है।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी एवं उनका जीवन-दर्शन

(सम्यग्दर्शन एवं उसका विषय)

पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी इस युग के एक महान् एवं असाधारण व्यक्तित्व हैं। उनके बहुमुखी व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने सत्य से बहुत दूर जन्म लेकर स्वयं-बुद्ध की तरह स्वयं सत्य का अनुसंधान किया एवं अपने प्रचंड पौरुष से जीवन में उसे आत्मसात् किया। इस जीवन में शुद्ध अन्तस्तत्व की देशना के लिये उन्हे किन्हीं गुरु का योग नहीं मिला, फिर भी उन्होंने तत्त्व को पा लिया, क्योंकि सद्गुरु की देशना को वे इस जीवन से पूर्व ही उपलब्ध कर चुके थे। पूर्व-देशना से प्राप्त उनका तत्त्वज्ञान इतना परिपूर्ण एवं परिमार्जित था कि वह इस भवांतर तक भी उनके साथ रहा और उसी ने उन्हें आलोक दिया। उन्होंने तो आगम की नैसर्गिक पद्धति में तत्त्व को उपलब्ध कर ही लिया, किन्तु मेरी कल्पना यह है कि इस युग में अन्तस्तत्व के बोध के लिये यदि वे किसी को अपना गुरु स्वीकार कर भी लेते तो भी उन्हें तत्त्व की उपलब्धि संभव नहीं थी; क्योंकि उस समय यह तत्त्व प्रायः अभावग्रस्त

था। यहाँ तक कि जीवन के सहज क्रम में जो दीक्षा-गुरु उन्हें मिले थे, तत्त्व की शोध एवं उपलब्धि के लिए उनका मोह भी उन्हें छोड़ना पड़ा।

सौराष्ट्र के उमराला ग्राम में जन्मे उजमबा एवं मोती के ये लाल बाल्य से ही विरक्त चित्त थे और एकमात्र ज्ञान एवं वैराग्य के प्रकरण ही उन्हे पसन्द थे। अपनी उदात्त लोकोत्तर आकांक्षाओं के समक्ष उन्हें कामिनी का माधुर्य परास्त नहीं कर सका; फलस्वरूप किसी भी मूल्य पर वे उसे जीवन में स्वीकार करने को सहमत नहीं हुए। अन्तर में भोगों से विरक्ति बढ़ती ही गई और अन्त में 24 वर्ष की भरी जवानी में वे स्थानकवासी जैन सम्प्रदाय में दीक्षित हो गये। दीक्षा के नियमानुसार घर-बार, कुटुम्ब-परिवार, धन-सम्पत्ति सब छूट ही गये और दीक्षा के आचार का भी दृढ़ता से पालन होने लगा, किन्तु शान्ति की हूक शान्त नहीं हुई; शोध की प्रेरणा प्रशान्त नहीं हुई और अन्तर्द्वन्द्व चलता ही रहा। अतः अधिक समय तक वह प्रतिबन्ध सह्य न हो सका और एक दिन (वि.स. 1991) मस्त मतंग की तरह उसे भी छोड़कर चल दिये एवं तत्त्व की मस्ती में घूमते श्री कानजीस्वामी का स्वर्णपुरी (सोनगढ़) सहज ही विश्राम-स्थल बन गया।

श्री कानजीस्वामी के जीवन का यह स्थल सर्वाधिक मार्मिक, स्तुत्य, लोक-मांगल्यविधायक एवं वरेण्य है, जहाँ

उन्होंने जीवन के सबसे भयंकर शत्रु मताग्रह को खुली चुनौती दी और अन्त में विजयी हुए। जीवन में गृह-कुटुम्ब, कंचन-कामिनी, पद एवं प्रतिष्ठा - सभी कुछ तो छूट जाते हैं; किन्तु महान् ऋषि, मुनि एवं मनीषियों का बौद्धिक धरातल इस मताग्रह के प्रचंड पाश से मुक्त नहीं हो पाता। फलस्वरूप दृष्टि निष्पक्ष नहीं हो पाती और असंख्य प्रयत्नों में भी सत्य आत्मसात् नहीं होता।

श्री कानजीस्वामी इस युग के एक शुद्ध आध्यात्मिक क्रान्तिदृष्टा पुरुष हैं। उन्होंने जिस क्रान्ति का सूत्रपात किया, ऐसी क्रान्ति पहिले शताब्दियों में भी नहीं हुई। जैन-लोक-जीवन की श्वासें, रूढ़ि, अन्धविश्वास, पाखंड एवं कोरे कर्मकांड की कारा में घुट रही थीं। इसके आगे धर्म कोई वस्तु ही नहीं रह गया था। इन महापुरुष ने शुद्ध जिनागम का मन्थन कर इन जीवन-विरोधी तत्त्वों को अधर्म घोषित किया और इस निकृष्ट युग में शुद्ध आत्म-धर्म की प्राण-प्रतिष्ठा की। उन्होंने जन-जीवन को एक सूत्र दिया, *“स्वावलंबन अर्थात् निज शुद्ध चैतन्यसत्ता का अवलम्बन ही धर्म है। परावलम्बन में धर्म अथवा शान्ति घोषित करने वाली सभी पद्धतियाँ अधर्म हैं; फलस्वरूप विश्वसनीय नहीं हैं।”*

जिस समय भारत वसुधा पर पूज्य श्री कानजीस्वामी का अवतरण हुआ उस समय भी आध्यात्मिक चिंतन का रिवाज तो था किन्तु उस चिंतन में अध्यात्म नहीं था।

आध्यात्मिक चिंतन का यह स्वरूप हो चला था कि आत्मा को कहा तो शुद्ध जाता था किन्तु वास्तव में माना अशुद्ध जाता था अथवा यदि शुद्ध माना भी जाता था तो आगम भाषा के दासत्व के कारण शुद्ध निश्चयनय से शुद्ध माना जाता था और व्यवहारनय से अशुद्ध। इस तरह श्रद्धा के लिये कोई धरती ही नहीं रह गई थी और दो नयों की चक्की में घुन की तरह पिसकर आत्मा की मट्टी पलीत हो रही थी। बड़े से बड़े विचारक, महान से महान प्रतिभाएँ, त्याग और वैराग्य के आदर्श, नय की इस चक्रीयता में इस तरह मुग्ध थे कि न तो उसमें से निकलने का उनका मन था और न सामने कोई रास्ता। सौराष्ट्र के इस संत ने जंगलों के निर्जनों में समयसार एवं मोक्षमार्गप्रकाशक जैसे परमागमों का गम्भीर अवगाहन कर इस आध्यात्मिक समस्या का सरलतम समाधान प्रस्तुत किया।

उन्होंने कहा- "विश्व के सभी जड़-चेतन पदार्थ स्वयंसिद्ध अनंत शक्तिमय एवं पूर्ण हैं। वे एक-दूसरे से अत्यन्त भिन्न अपनी स्वरूप-सीमा में ही रहते हैं और एक-दूसरे का स्पर्श तक नहीं करते। अतः सभी जड़-चेतन सत्तायें नितान्त शुद्ध हैं। आत्मा भी एक ऐसी ही स्वयंसिद्ध, निरपेक्ष, शुद्ध चैतन्य सत्ता है। श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र, आनन्द आदि उसकी असाधारण शक्तियाँ अथवा स्वभाव हैं जो शाश्वत उसी में रहते हैं। वह अपने में परिपूर्ण एवं अन्य से अत्यन्त भिन्न

है। अतः वह एक शुद्ध एवं स्वतन्त्र सत् है क्योंकि जो सत् अथवा सत्ता है वह स्वतन्त्र, पूर्ण एवं पवित्र होना ही चाहिए अन्यथा वह सत् कैसा? जो जड़ है वह पूरा जड़ हो एवं चेतन पूरा चेतन। अपूर्ण जड़ अथवा अपूर्ण चेतन का स्वरूप भी क्या हो। अतः भिन्नत्व, पूर्णत्व एवं एकत्व सत् का स्वरूप ही है। विश्व के दर्शनों में जैनदर्शन का यह एक मौलिक अनुसंधान है। अपने अनुसंधान में उसने कहा- वस्तु का एकत्व ही उसका परम सौन्दर्य है। सम्बन्ध की वार्ता विसंवाद है।"

विश्व के प्रत्येक पदार्थ के दो अवयव हैं- एक उसकी अनन्त शक्तिमय ध्रुव सत्ता, जिसे द्रव्य कहते हैं और दूसरी उसकी प्रति समय बदलने वाली पर्याय। आत्म पदार्थ के भी इसी प्रकार दो अवयव हैं- एक उसकी श्रद्धा, ज्ञान, आनन्द आदि अनन्तशक्तिमय, ध्रुव, शुद्ध एवं पूर्ण सत्ता एवं दूसरी उसकी श्रद्धा, ज्ञान आदि पर्याय (मानने-जानने आदि रूप पर्याय)। आत्म सत्ता का ऐसा परिशुद्धस्वरूप स्थापित हो जाने पर आत्मा की श्रद्धा, ज्ञान (जानने-मानने वाली पर्याय) वृत्ति का केवल एक ही काम रहा कि वह आत्मा को पूर्ण एवं शुद्ध ही माने, ऐसा ही जाने एवं ऐसा ही अनुभव करे एवं अन्य सभी जड़-चेतन पदार्थों को अपने से भिन्न जाने। किन्तु आत्मा की इस वृत्ति में सदा से ही अज्ञान एवं अविश्वास रहा कि उसने अपने को शुद्ध एवं पूर्ण माना ही

नहीं, अतएव अपनी पड़ौसी देहादि सत्ताओं में ही मुग्ध रही। उन्हीं में अहं किया एवं उन्हीं में लीनता। पर सत्ताओं में अहं की यह वृत्ति महान व्यभिचारिणी है, क्योंकि उसमें विश्व की अनन्त सत्ताओं को अपने अधिकार में लेकर उनमे रमण करने की चेष्टा है। अतः विश्व की स्वतन्त्र एवं सुन्दर व्यवस्था को समाप्त कर देने की यह हरकत विश्व का सर्व महान अपराध हुआ और उसकी दण्ड-व्यवस्था में निगोद फलित हुआ।

परिशुद्ध कांचन-तत्त्व होने पर भी आत्मा की वृत्ति में इतना लम्बा एवं ऐसा भयंकर अज्ञान क्यों रहा? इसका उत्तर आत्मा से दूर कहीं अन्यत्र तलाश करना एक दार्शनिक अपराध होगा, क्योंकि भिन्न सत्ताक वस्तुओं में कारण-कार्य भाव भी घटित नहीं होता। अतः इसका उत्तर स्वयं आत्मा में ही निहित है और वह यह है कि आत्मा ने सदा से स्वतः ही यह अज्ञान परिणाम किया और वह स्वयं ही अज्ञानी रहा। जैसे- एक लौकिक प्रश्न है कि महान बलशाली, पराक्रमी एवं अतुल वैभव सम्पन्न एक सम्राट की महारानी दरिद्री महावत पर मुग्ध क्यों हो गई? उसका कारण यदि हम महावत को मानें तो सम्राट तो उससे कहीं बहुत अधिक है फिर महावत का मोह कैसा? अतः पूर्ण अनुसंधान के बाद हमारा अन्तिम समाधान यही होगा कि यह तो महारानी की अपनी स्वाधीन परिणति ही है। उसके मनोविकार का कारण

भी अत्यन्त पर-निरपेक्ष ही है। कथन में कर्मोदय आदि की सापेक्षता आ जाती है, किन्तु भाव तो निरपेक्ष ही रहता है; क्योंकि यदि कोई दूसरा आत्मा को अज्ञानी बनावे तो कोई ज्ञानी भी बना सकेगा और पुनः कोई अज्ञानी बना देगा। इस प्रकार आत्मा किसी के हाथ की कठपुतली मात्र रह जायेगा और उसके बन्ध-मोक्ष के सभी अधिकार छिन जावेंगे और यह तो एक मखौल ही होगा। किन्तु फिर एक प्रश्न है कि तो फिर इतने लम्बे एवं जटिल अज्ञान का अन्त कैसे हो? तो यह प्रश्न स्वयं ही अपना उत्तर है। **"अज्ञान का अन्त कैसे हो" ज्ञान में इस सबल विचार का उत्पाद ही अज्ञान का प्राणान्तक है, क्योंकि प्रबल अज्ञान में ऐसा समर्थ विचार होता ही नहीं।** अनादि अज्ञान के प्रवाह में शुद्धात्मानुभूति-सम्पन्न किन्हीं ज्ञानी सत्पुरुष का सुयोग मिलने पर जो महान उद्यमशील आत्मा उनकी कल्याणी वाणी को हृदयंगम करता है, उसका अनादि का अज्ञान शिथिल होकर इस समर्थ विचार में प्रवृत्त होता है। ज्ञानी गुरु की वाणी का मर्म जिसे अपने ज्ञान में प्रतिभासित हुआ है उसे यह विशुद्ध चिंतनधारा प्रारम्भ होती है। यह प्रश्न हमारा और हो सकता है कि अज्ञानी को ज्ञान ही नहीं है, वह यह सब कैसे करता होगा? तो ऐसा नहीं है कि उसके पास ज्ञान का अभाव है। अज्ञानी के पास ज्ञान तो बहुत है किन्तु परसत्तासक्ति के कारण उसके ज्ञान का सूक्ष्मातिसूक्ष्म व्यवसाय भी पर में ही होता है। किन्तु यही ज्ञान सद्गुरु भगवन्त से

आनन्द निकेतन स्व-सत्ता की महिमा सुनकर उसके प्रति उग्र व्यवसाय करके सम्यग्ज्ञान में परिणत हो जाता है और अतीन्द्रिय आनन्द का संवेदन करने लगता है।

अज्ञानी के ज्ञान का यह ईहात्मक प्रश्न कि 'अज्ञान का अन्त कैसे हो' अज्ञान को एक खुली चुनौती है। इस प्रश्न में अज्ञानी को अज्ञान का स्वरूप विदित हो चुका है। अब वह समझने लगा है कि मेरी चैतन्य सत्ता तो अनादि-अनंत, पूर्ण, ध्रुव, अक्षयानन्द स्वरूप एवं सर्व सम्बन्ध विहीन है और मेरी ही वृत्ति ने उसे नश्वर, अपूर्ण, दुःखी, अज्ञानी एवं पराधीन कल्पित किया है। यही मेरा अज्ञान था और अज्ञान आत्मा की पर्याय होने पर भी झूठा होने से कभी भी अनुशीलन के योग्य अर्थात् श्रद्धेय नहीं है, क्योंकि अज्ञान के अनुशीलन में कभी भी सही आत्मसत्ता की उपलब्धि नहीं हो सकती। इस प्रकार अज्ञान को वह स्व-सत्ता विरोधी एवं नितान्त मिथ्या मानकर अज्ञान एवं अज्ञान से प्रादुर्भूत पर-सत्तावलम्बी पुण्य एवं पाप की वृत्तियों एवं अनन्त पर-सत्ताओं से एकत्व तोड़ता हुआ एवं समर्थ भेदज्ञान के बल से स्व-सत्ता में ही एकत्व एवं अहं की स्थापना करता हुआ अपने अविराम चिन्तन द्वारा जब महामहिम, आनन्द-निकेतन निज चैतन्यसत्ता में ही अलख जगाता है तो सदा से पुण्य-पाप जैसी पर-सत्ताओं में पड़ा श्रद्धा का अहं कंपित एवं विडोलित होकर स्खलन को प्राप्त होता है और

लौटकर अपनी ध्रुव अक्षय सत्ता में ही अहंशील होता है। *स्वरूप के अहं में धारावाहिक सक्रिय इस गौरवमय वृत्ति को ही सम्यग्दर्शन कहते हैं।* श्रद्धा का स्व-सत्ता में अहं परिणत होने के ही क्षण में श्रुतज्ञान की अविराम चिंतनधारा मन का अवलम्बन तोड़ती हुई विराम को प्राप्त होकर उसी शुद्ध चैतन्यसत्ता में एकत्व करती हुई अतीन्द्रिय आनन्द की अनुभूति करती है। उपयोग की यह परिणति ही सम्यग्ज्ञान है जो अनुभूति का विलय हो जाने के उपरान्त भी भेद-विज्ञान की प्रचंड क्षमता को लेकर सम्यग्दर्शन के साथ निरन्तर बना रहता है और उसी समय किंचित् रागांशों के अभाव से उत्पन्न अल्प स्वरूप-स्थिरता ही स्वरूपाचरण चारित्र है। इस प्रकार परम आनन्दस्वरूप यह अनुभूति श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र की त्रिवेणी है और साक्षात् मोक्षमार्ग है।

जैनदर्शन का यह चिंतन सचमुच कितना वैज्ञानिक है कि जहाँ वह यह प्रतिपादन करता है कि जीवन-कला का आरम्भ ही जीवन-तत्त्व (निज अक्षय सत्ता) के स्वीकार से होता है; इसीलिए साधना के प्रथम चरण में उसने सम्यग्दर्शन को स्थापित किया और कहा कि इसके बिना सर्वबोध एवं जीवन की सर्वआचार-संहिता मिथ्या ही होती है।

सम्यग्दर्शन जैसी जीवन की महान उपलब्धि एवं उसके विषय को हृदयंगम करने के लिए यदि हम आत्म-पदार्थ के द्रव्य-पर्यायस्वरूप पर अनेकांतिक दृष्टि से विचार करें तो

निर्णय बड़ा ही सरल हो जावेगा। यह निर्विवाद है कि आत्म-पदार्थ के दो अंश हैं- द्रव्य एवं पर्याय। आत्म-पदार्थ का द्रव्य अंश जिसे शुद्ध चैतन्यसत्ता, कारणपरमात्मा, परमपारणामिकभाव भी कहते हैं; सदा पर से भिन्न, अक्षय, अनन्तशक्तिमय, पूर्ण, ध्रुव अत्यन्तशुद्ध एवं पूर्णनिरपेक्ष है। उसमें कुछ भी करने का कभी भी अवकाश नहीं है और वह सदा ज्यों का त्यों रहता है। आत्मा के द्रव्यांश का यह स्वरूप प्रसिद्ध हो जाने पर अब उसका दूसरा अंश पर्याय शेष रह जाती है। यदि हम पर्याय की कार्य-मर्यादा पर विचार करें तो हमारे मन में स्वाभाविक ही एक प्रश्न पैदा होगा कि द्रव्य के पूर्ण एवं शुद्ध सिद्ध हो जाने पर पर्याय को तो द्रव्य में कुछ करना ही नहीं रहा, तब फिर पर्याय का कार्य क्या होगा ? तो उसका एक सरल उत्तर है कि जब आत्मा का स्वभाव ही श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र, आनन्द आदि है तो उसकी पर्याय का कार्य भी नित्य विद्यमान द्रव्य की श्रद्धा, उसी का अहं, उसी की अनुभूति एवं उसी की लीनता करना रहा और पर्याय का स्वरूप भी आलम्बनशीलता ही है। वह द्रव्य की रचना नहीं करती, द्रव्य में कोई अतिशय नहीं लाती, वरन् द्रव्य जैसा है वैसी ही उसकी प्रतीति एवं अनुभूति करती है। द्रव्य तो ज्ञान एवं अज्ञान दोनों दशाओं में ज्यों का त्यों रहता है। इस प्रकार अनैकांतिक पद्धति में आत्म-पदार्थ के दो अंश द्रव्य एवं पर्याय की स्वरूप-सीमा भी स्थिर हो जाती है और

आत्म-पदार्थ दो अंशों में खण्डित न होकर द्रव्य-पर्यायस्वरूप पूरा बना रहता है।

आत्मा द्रव्य-पर्यायस्वरूप होने पर भी द्रव्य और पर्याय का स्वरूप परस्पर विरुद्ध होने के कारण श्रद्धा का अहं एक ही साथ दोनों में नहीं हो सकता। जैसे एक स्त्री का अहं एक ही साथ स्व एवं पर, दो पुरुषों में नहीं हो सकता। नित्य द्रव्य के अहं में 'मैं अक्षय हूँ' ऐसी अनुभूति होती है और अनित्य पर्याय के अहं में 'मै क्षणिक हूँ' ऐसा संवेदन होता है। पर्याय का स्वरूप भी विविध-रूपा है। वह क्षणिक है, आलम्बनवती है, वर्तमान में विकारी है। भूत एवं भविष्य का वृत्ति-समुदाय वर्तमान में विद्यमान ही नहीं है एवं समग्र ही वृत्ति समुदाय गमनशील है। उसमें विश्राम नहीं है। पथिक को गमन में नहीं, गन्तव्य में विश्राम मिलता है; क्योंकि गन्तव्य ध्रुव एवं विश्रामस्वरूप होता है। इसी प्रकार आत्मवृत्ति को वृत्ति में नहीं, ध्रुव में ही विश्राम मिलता है। वृत्तियाँ तो स्वयं ही विश्राम के लिए किसी सत्ता को तपासती हैं। इस प्रकार समग्र ही वृत्ति-समुदाय दृष्टि (श्रद्धा) के विषय-क्षेत्र से बाहर रह जाता है। इसी अर्थ में आचार्यदेव श्री अमृतचन्द्र ने कहा हैं कि "बद्धस्पृष्टादि भाव आत्मा के ऊपर ही ऊपर तैरते हैं, उनका आत्मा में प्रवेश नहीं होता।"

इस सम्बन्ध में कुछ और भी तथ्य विचारणीय हैं। आत्मा एक अनादि-अनन्त ध्रुव एवं अक्षय सत्ता है। गुण एवं

पर्याय तो उसके लघु अंश हैं और वह एक ही सदा इनको पीकर बैठा है। अतः गुण पर्याय के अनन्त सत्वों से भी वह चिन्मय सत्ता बहुत अधिक है। पर्याय जब उस अनन्तात्मक एक का अहं एवं अनुभव करती है तो उस एक की अनुभूति में अनन्त ही गुणों का स्वाद समाहित हो जाता है। इसके विपरीत एक-एक गुण पर्याय की अनुभूति की चेष्टा स्वयं ही वस्तुस्थिति के विरुद्ध होने से कभी भी फलित नहीं हो पाती, अतः प्रतिक्षण आकुलता ही उत्पन्न करती है। क्योंकि वस्तु के प्रत्येक प्रदेश में अनन्त गुणों की समष्टि इस तरह संगठित एवं एकमेक होकर रहती है कि उसमें से किसी एक के अनुभव का आग्रह अनंतकाल में भी साकार नहीं होता वरन् अज्ञानी इस चेष्टा में प्रतिक्षण विफल-प्रयास होने से निरन्तर प्रचण्ड आकुलता को उपलब्ध करता रहता है। गुण-पर्याय के अहं में अनन्त गुण-पर्याय की एकछत्र स्वामिनी भगवती चैतन्य-सत्ता का महान अपमान भी होता है। अतः गुण-पर्याय का अहं भी जड़ सत्ताओं के अहं के समान मिथ्यादर्शन ही है।

आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय एक ही समय में ज्ञान के विषय तो बनते हैं किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि इनको अहं भी एक ही साथ समान रूप से समर्पित किया जाये। अनेक को एक साथ जानना एक बात है और फिर उनमें से श्रद्धा (अहं) के विषय का चयन करना बिलकुल भिन्न दूसरी बात है। सभी ज्ञेय श्रद्धेय नहीं होते वरन् आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्यायमय परस्पर विरूद्ध स्वरूप को जानकर ज्ञान ही यह निर्णय लेता है कि यह तीनों समान रूप से उपादेय नहीं हो सकते, वरन् तीनों में मात्र निरपेक्ष, निर्भेद एवं निर्विशेष द्रव्य-सामान्य ही उपादेय अथवा श्रद्धेय होने योग्य है। अन्य की उपादेयता स्पष्ट मिथ्यादर्शन है।

एक वार्ता यह भी बहुलता से चलती है कि जब एकान्त पर्यायदृष्टि अर्थात् पर्याय का अहं मिथ्या एवं आकुलतास्वरूप है तो एकान्त द्रव्यदृष्टि भी मिथ्या एवं आकुलतामय होना चाहिए। यह तर्क ठीक ऐसा ही लगता है कि गर्त में गिरना यदि एकान्त कष्टमय है तो सदन का निवास भी एकान्त कष्टप्रद ही होना चाहिए, किन्तु यह तर्क तो स्पष्ट अनुभूति के विरूद्ध है। जब अनादि से समग्र ही पर्याय-समुदाय अज्ञान, राग-द्वेष एवं अनित्यता का आयतन है और इसके समानान्तर एकमात्र निज चैतन्य सत्ता ही शुद्ध, पूर्ण, ध्रुव एवं आनन्द-निकेतन है तो दोनों में से किसका अहं एवं किसका अवलम्बन श्रेयस्कर होगा? एक बात और है और वह यह कि *ज्ञान सदा अनैकांतिक ही होता है और दृष्टि (श्रद्धा) सदा ऐकांतिक ही होती है।* द्रव्य एवं पर्याय के परस्पर विरूद्ध दोनों पहलुओं का परिज्ञान हो जाने पर सहज ही यह निर्णय हो जाता है कि वृत्ति (दृष्टि) को दोनों में से कहाँ आराम मिलेगा। निश्चित रूप में ध्रुव द्रव्य ही शाश्वत आराममय है। इस प्रकार ध्रुव की महिमा ज्ञात हो जाने पर

अनादि से क्षणिक वृत्ति-समुदाय में पड़ा श्रद्धा का अहं विगलित होकर निज ध्रुव-सत्ता के अहं में परिणत हो जाता है।

श्रद्धा का विषय इतना स्पष्ट होने पर भी प्रमाणाभास से ग्रासीभूत आग्रह श्रद्धा के विषय में पर्याय शामिल किये बिना तृप्त नहीं होते। किन्तु हमारा संतुलित विशुद्ध चिन्तन स्वयं हमें यह समाधान देगा कि श्रद्धा के विषयक्षेत्र में पर्याय के भी पदार्पण का हमारा आग्रह अविवेक तो है ही, साथ ही अत्यन्त अव्यावहारिक भी है। इस सम्बन्ध में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण बात सदा दृष्टव्य है- एक प्रश्न है कि श्रद्धा का श्रद्धेय पहले से ही विद्यमान एवं पूर्ण होता है या श्रद्धा के क्षण में स्वयं श्रद्धा आदि वृत्तियाँ श्रद्धेय के साथ मिलकर उसे पूरा करती हैं और तब वह उसका श्रद्धेय होता है? यदि श्रद्धा आदि वृत्तियाँ श्रद्धेय को पूरा करती हैं तो इसका अर्थ यह हुआ कि श्रद्धेय सदा ही अपूर्ण है और अपूर्ण श्रद्धेय में श्रद्धा का सर्व-समर्पण एवं लीनता अनन्तकाल में भी सम्भव नहीं है। इस प्रकार श्रद्धेय की अपूर्णता में श्रद्धा का स्वरूप सदैव संदिग्ध, भ्रान्त एवं मलिन ही रहेगा और वह कभी भी सर्वसमर्पणपूर्वक श्रद्धेय का वरण नहीं करेगी।

एक बात और है- यह तो सर्वविदित है कि वर्तमान में अज्ञानी का सर्व पर्याय-समुदाय विकारी है और स्व एवं पर, द्रव्य एवं पर्याय, विकार एवं निर्विकार आदि का तात्विक चिंतन एवं विश्लेषण भी अज्ञान दशा में ही प्रारम्भ होता है।

अतः द्रव्य एवं पर्याय के तात्विक विश्लेषण में पर्याय-समुदाय के विकार एवं अनित्यता का पता लग जाने पर भी उसे निर्विकारी द्रव्य के साथ मिलाकर अनुभव करने का आग्रह तो भयंकर अविवेक ही होगा और क्या इस अविवेकपूर्ण प्रयास में किसी मनोरम, रमणीक एवं परम निर्विकार श्रद्धेय की अनुभूति एवं उपलब्धि हो सकेगी? विकार को निर्विकार के साथ एकाकार करके अनुभव करने के प्रयास में वास्तव में दोनो कभी एकमेक तो होते ही नहीं, वरन् इस दुराग्रह में द्रव्य एकांत विकारी ही अनुभव में आता है, कुछ विकारी एवं कुछ निर्विकारी नहीं। वास्तव में यह आग्रह शुद्ध दूध में राख मिलाकर सेवन करने तुल्य है। जब दूध एवं राख परस्पर विपरीत दो तत्त्व हैं और दोनों की अत्यंत भिन्न अनुभूति हो सकती है तो दोनों को मिलाकर सेवन करने का आग्रह तो मात्र बालचेष्टा ही होगा, इस चेष्टा में कभी भी शुद्ध दूध की अनुभूति संभवित नहीं होगी एवं कुछ शुद्ध दूध की अनुभूति और कुछ अशुद्ध दूध की अनुभूति- ऐसा द्वैत न होकर एकांत अशुद्धता का ही अनुभव होगा। इसी प्रकार परम निर्विकार द्रव्य एवं क्षणिक विकारी पर्याय समुदाय-दोनों परस्पर विपरीत दो भाव होने से दोनो में से एक समय में एक का ही अहं एवं अनुभूति, अत्यंत असंदिग्ध है। तब फिर दोनों को मिलाने का दुराग्रह क्यों? और यह आग्रह तो तब होना चाहिये जब एक समय में एक

के बिना दूसरे का संचेतन असंभव हो। किन्तु दोनों भाव परस्पर विपरीत होने से शुद्ध चैतन्यतत्व की अनुभूति अशक्य एवं दुःसाध्य तो है ही नहीं वरन् सरलतम, सुखद एवं परम मंगलमय होती है; अतः क्षणिक एवं विकारी पर्याय के सम्मिश्रण के बिना परमनिर्विकार द्रव्य के वेदन की अशक्यता का प्रतिपादन ज्ञान का भयंकर क्लैव्य है, फलस्वरूप तिरस्करणीय है।

वस्तुतः अज्ञानी को अपनी विशुद्ध चिंतनधारा में जब यह पता लगता है कि 'मेरी सत्ता तो नितान्त शुद्ध एवं अक्षय है और मेरी ही वृत्ति उसे अशुद्ध एवं नश्वर घोषित करती रही' तो वृत्ति-समुदाय के मिथ्या प्रलाप का उद्घाटन हो जाने पर वृत्ति-समुदाय में पड़ा उसका विश्वास स्खलित होकर शुद्ध चैतन्य सत्ता में अपने अहं की स्थापना कर लेता है। इस विश्वास में सदैव ही पर्याय के स्वर का निषेध प्रवर्तित होता है। इसी को पर्याय का हेयत्व कहते हैं। स्पष्ट बात तो यह है कि दृष्टि में निषेध रूप भी कोई वृत्ति प्रवर्तित नहीं होती वरन् निरन्तर निज शुद्ध चैतन्य सत्ता में अहं का प्रवर्तन ही पर्याय का निषेध अथवा हेयत्व कहा जाता है। फिर भी यदि हमारा पूर्वाग्रह विकारी एवं अनित्य वृत्ति-समुदाय को परम निर्विकार नित्य द्रव्य के साथ मिलाकर अपने श्रद्धेय की रचना करेगा तो उस श्रद्धेय का क्या स्वरूप होगा, इसकी कल्पना भी सम्भव नहीं है। सम्भवतः इस मिथ्या एवं विफल प्रयास में श्रद्धा एवं श्रद्धेय का सम्पूर्ण सौन्दर्य ही नष्ट हो

जावेगा। इसी प्रकार भावी निर्विकारी पर्याय-समुदाय को द्रव्य में मिलाकर श्रद्धा करने का आग्रह भी समान कोटि का मिथ्यादर्शन ही है, क्योंकि भावी निर्मल पर्यायें तो वर्तमान में विद्यमान ही नहीं हैं; अतः उस अविद्यमान सत् को विद्यमान द्रव्य में मिलाने की विधि क्या होगी? दूसरी वजनी बात यह है कि कोई भी पर्याय नित्य विद्यमान निर्विकारी निज चैतन्य-सत्ता के अवलम्बन पर शुद्ध होती है, न कि शुद्ध पर्याय का अवलम्बन होता है।

इस संदर्भ में एक अत्यंत सुन्दर मनोवैज्ञानिक तर्क भी हमें समाधान देगा- कि जब इस विश्व की अनंत सत्ताओं की तरह निज चैतन्य-सत्ता भी संपूर्ण एवं सुन्दर है एवं विश्व की प्रत्येक सत्ता के पास जितना वैभव है उतना ही हमारे पास भी है, तथा अन्य सत्ताओं के स्वामी अन्य द्रव्य ही होने चाहिए एवं उनके स्वामित्व का हमें कोई अधिकार नहीं हो सकता और होना भी नहीं चाहिए; तो फिर संपूर्ण एवं सुन्दर स्व-सदन (स्व-सत्ता) का अवलंबन छोड़कर पर-सदन (पर-सत्ता) में प्रवेश का यत्न क्या वैध एवं विधेय होगा? और क्या इस बलात्कार में शान्ति एवं आनन्द की उपलब्धि हो सकेगी? निश्चित ही नहीं होगी वरन् यह यत्न विश्व का महान अपराध घोषित किया जावेगा।

पुनः एक अत्यंत हृदयग्राही तथ्य भी हमारा ध्यान आकर्षित करेगा और वह यह कि वस्तु की वृत्ति को स्वयं

वस्तु में ही विराम न मिले, यह विधान किसने बनाया? माँ की गोदी में अपने ही बालक को धारण करने की क्षमता कब नहीं रहेगी? और वस्तु की वृत्ति अपनी ही वस्तु के अनंत एवं अपरिमित वैभव में संतुष्ट न हो और अन्य की ओर आकर्षित होकर अन्य सत्ताओं में अपना प्रेय एवं श्रेय तपासती फिरे, जगत् में इससे बड़ा आश्चर्य भी क्या होगा? सुमन की सौरभ को स्वयं अपने सुमन में संतोष नहीं, तो फिर जगत् में वह कौन-सा सुमन होगा जो इस सौरभ को अपने में शरण देगा? और वृत्ति को वृत्तिमान में विराम न मिले, लोक में यह लचर व्यवस्था किसने पैदा की? निश्चित ही इस कल्पना में किसी स्वस्थ एवं सुन्दर विश्व की उपलब्धि तो नहीं हो सकेगी। अतः वृत्ति को वृत्तिमान का अवलम्बन ही विश्व का परम सौंदर्य है।

शुद्ध चैतन्यसत्ता मिथ्यादर्शनादि विकारी पर्यायसमुदाय से विकारी नहीं बनती वरन् उस शुद्ध चैतन्यसत्ता का अदर्शन अर्थात् अविश्वास ही मिथ्यादर्शन की विकारी पर्याय है। इसी प्रकार वह चैतन्य सत्ता सम्यग्दर्शनादि शुद्ध पर्यायों के उत्पन्न होने पर शुद्ध नहीं होती वरन् उस चैतन्य सत्ता का दर्शन अर्थात् अहं ही सम्यग्दर्शन की शुद्ध पर्याय है। इस प्रकार चैतन्य सत्ता की त्रैकालिक शुद्धता एवं सर्व पर्याय-निरपेक्षता अत्यन्त निरापद है और सर्व ही अनित्य एवं विकारी पर्यायसमुदाय उसकी ध्रुव परिधि के बाहर रह जाता है। यहाँ तक कि ध्रुव सत्ता के

अहं को सम्यग्दर्शन कहा तो जाता है किन्तु सम्यग्दर्शन वास्तव में ध्रुव का अहं नहीं वरन् स्वयं ध्रुव है। इस प्रकार स्वयं सम्यग्दर्शन भी सम्यग्दर्शन की परिधि (ध्रुव) के बाहर रह जाता है और द्रव्य पर्याय स्वरूप पूरे आत्म पदार्थ में सम्यग्दर्शन का विषय पदार्थ का अनंत गुणात्मक सामान्य द्रव्यांश ही होता है, किन्तु अंश होने से वह अपूर्ण नहीं वरन् स्वयं ही पूर्ण है क्योंकि उसे पर द्रव्य एवं अपनी पर्याय की भी कोई अपेक्षा नहीं होने से वह अत्यन्त निरपेक्ष है और इसलिये वह पूर्ण है। दृष्टि (श्रद्धा) भी उसमें अंश की नहीं वरन् पूर्ण की प्रतीति करती हुई स्वयं पूर्ण है। इस प्रकार दोनों अंशों की पूर्णता ही वस्तु की पूर्णता है। ध्रुव को अंश मानकर श्रद्धा करना प्रकारान्तर से मिथ्यादर्शन ही है। जैसे ग्यारह के अंक में दोनों अंक अपने-अपने में पूर्ण ही हैं। इस प्रकार दोनों की पूर्णता ही ग्यारह की पूर्णता है। यदि एक के दोनों अंक अपूर्ण हों तो ग्यारह का पूर्णांक ही उपलब्ध नहीं होगा, क्योंकि दो अपूर्ण स्वयं तो कभी पूरे होते ही नहीं, किन्तु दोनों मिलकर भी किसी एक पूर्ण स्वरूप को निष्पन्न नहीं कर सकते। यह वस्तु-स्वभाव की स्वयं सिद्ध विलक्षणता ही है।

वास्तव में सम्यग्दर्शन को जो 'ध्रुव का अहं' कहा जाता है वह ज्ञान का व्यवहार है, किन्तु **सम्यग्दर्शन स्वयं अपने को ध्रुव का अहं' स्वीकार नहीं करता वरन् ध्रुव स्वीकार करता है।** अपने समक्ष विद्यमान 'ध्रुव' में 'मैं

ध्रुव हूँ' ऐसी उसकी अभेद स्वीकृति होती है और इस अभेद स्वीकृति को ही 'ध्रुव का अहं' कहते हैं। 'अहं मय ध्रुव' श्रद्धा का श्रद्धेय नहीं होता। श्रद्धा का श्रद्धेय इतना पूर्ण एवं सर्वोपरि होता है कि वह उसमें अपने को मिलाने का अवकाश नहीं पाती। वास्तव में 'पूर्ण' मे 'पूर्ण के अहं' के मिलने की भी कोई गुंजाइश नहीं है, अतः उस पूर्ण में 'पूर्ण के अंह' का भी त्रिकाल अभाव है और **जिसमें कुछ मिलाया जा सके वह पूर्ण कैसा?** अतः यदि श्रद्धा का स्वर यह हो कि 'मै पूर्ण का अहं हूँ' तो इस स्वर में 'पूर्ण का अहं' नहीं वरन् 'अहं का अहं' प्रवर्तित होता है और वह तो स्पष्ट मिथ्यादर्शन ही है। यदि श्रद्धा को अपने में ही, पर्याय को पर्याय में ही विश्राम मिल जाता है तो फिर वह आलबंन क्यों तपासती है? और यदि वह आलंबन तपासती ही रही तो इसका अर्थ यह है कि उसे स्वयं अपने में विराम नहीं मिला। अतः स्वयं 'अहं' एवं 'अहं' की मिलावट वाला पूर्ण श्रद्धा का आलंबन नहीं होता वरन् निरपेक्ष 'पूर्ण' उसका आलंबन होता है। अतः श्रद्धा में स्वयं श्रद्धा का भी अत्यन्त तिरोभाव होकर एक मात्र 'पूर्ण' का वर्चस्व ही आविर्भूत रहता है। उसमें ज्ञान की भाँति मुख्य एवं गौण की कोई व्यवस्था नहीं है। **"ध्रुव तत्त्व" श्रद्धा के लिये मुख्य तत्त्व नहीं वरन् वह उसका सर्वस्व ही है। इसीलिये सम्यग्दर्शन स्वयं अपने को मिटाकर ध्रुव का दर्शन करता है। वह अपने को 'गौण' की कक्षा में भी नहीं रखता। वास्तव में**

अपने को बचाकर श्रद्धेय को अपना समर्पण करने की वार्ता तो एकदम छल् एवं छद्म है। स्वयं को मिटाये बिना समर्पण का स्वरूप ही नहीं बन सकता। इसीलिये सम्यग्दर्शन की दुनिया में सम्यग्दर्शन संज्ञावाली कोई वस्तु ही नहीं है। राधा ने जगत् में राधा को कभी देखा ही नहीं। उसकी दुनिया कृष्ण की बनी थी। श्रद्धा की इस अनंत शून्यता में ही 'ध्रुव' की मंगलमय बस्ती बसती है और इसीलिये श्रद्धा का यह अद्वैत अनंत आनंदमय होता है।

इस पद्धति में आत्मा को मात्र ध्रुव मानने से उसमें पर्याय का अभाव नहीं हो जाता वरन् 'ध्रुव एवं ध्रुव की श्रद्धा', 'पूर्ण एवं पूर्ण का अहं', इस प्रकार दोनों अंशो की निरपेक्ष पूर्णता में आत्म-पदार्थ द्रव्य-पर्यायस्वरूप पूर्ण ही बना रहता है, जैसे शरीर के प्रत्येक अंग की पूर्णता ही शरीर की पूर्णता है। यदि शरीर के सभी अंग अधूरे हों तो सब अधूरे अंगों से एक पूर्ण शरीर तो निष्पन्न नही हो सकता। इसी प्रकार 'आधा द्रव्य एवं आधी पर्याय' यह पदार्थ का स्वरूप नहीं वरन् 'पूर्ण द्रव्य और पूर्ण पर्याय' यह पदार्थ का स्वरूप होता है। वास्तव में ध्रुव को अंश मानने वाली श्रद्धा में पूर्णता की प्रतीति ही नहीं होगी, फलस्वरूप अनुभूति में आनन्द की निष्पत्ति ही नहीं होगी; वरन् अंश अर्थात् अपूर्ण की प्रतीति होने से सदा ही ऐसा लगता रहेगा कि आत्मा में अभी कुछ कमी है। निश्चय ही श्रद्धा आदि वृत्तियों का कार्य ध्रुव आत्मा में कुछ करना नहीं वरन् उसे ध्रुव मात्र मानना

होता है। 'मैं ध्रुव हूँ' यही सम्यग्दर्शन का स्वर है। सम्यग्दर्शन की काया ध्रुव से ही निर्मित है। उसमें सर्वत्र ध्रुव ही पसरा है। अनित्यता उसमें है ही नहीं। उसके विश्व में ध्रुव के अतिरिक्त अन्य सत्ता का स्वीकार ही नहीं है। उसका विश्व ध्रुव है। यदि दृष्टि में ध्रुव के अतिरिक्त अन्य सत्ता का भी स्वीकार हो तो दृष्टि का स्वभाव अहं होने के कारण उसे अन्य सत्ता में अहं हुए बिना नहीं रहेगा और यही अहं मिथ्यादर्शन है। 'मेरी सत्ता ध्रुव है', सम्यग्दर्शन को द्रव्य-पर्याय का यह भेद भी बर्दाश्त नहीं है। दृष्टि (श्रद्धा) का स्वरूप ही ऐसा है। उसे ज्ञान की तरह स्वपर का भेद करना नहीं आता, उसे तो अहं करना आता है। उसके लोक में कोई पर है ही नहीं। वह मिथ्या होती है तब भी उसे सब स्व ही दिखाई देता है, तब सम्यक् होने पर तो उसकी परिधि में अन्य भावों को प्रवेश कैसे सम्भव है? **और तो और, सम्यग्दर्शन के घर में स्वयं सम्यग्दर्शन के रहने के लिए भी कोई जगह नहीं है। उसने अपना कोना-कोना ध्रुव के लिए खाली कर दिया है।**

सौराष्ट्र के सन्त ने भव के अन्त के लिए 'ध्रुव' का यह मंगलसूत्र लोक को दिया। उन्होंने सम्यग्दर्शन के जिस स्वरूप का अनुसंधान किया वह इस युग का एक आश्चर्य है। सम्यग्दर्शन के इस सूक्ष्म एवं अद्भुतस्वरूप का इस युग को स्वप्न भी नहीं था। **वास्तव में श्री कानजीस्वामी इस युग**

में सम्यग्दर्शन के आविष्कर्त्ता हैं और यह भवान्तक सम्यग्दर्शन इस युग को उनका सबसे महान वरदान है। उसके स्वरूप का बोध उनके बिना सम्भवित नहीं था। उन सत्पुरुष ने सम्यग्दर्शन के सम्बन्ध में प्रचलित सभी भ्रान्तियों को प्रक्षालित कर दिया। कोई कहते थे कि सच्चे देव, गुरु, धर्म की श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन है तो कोई सात तत्व की श्रद्धा। किसी ने तो यहाँ तक कहने का दुस्साहस किया कि जैन कुल में जन्म ही सम्यग्दर्शन है। कहीं से आवाज आई कि सम्यग्दर्शन काललब्धि आने पर अपने आप होता है, उसके लिए पुरुषार्थ अपेक्षित नहीं है और उत्पन्न हो जाने पर भी स्वयं को उसका पता नहीं चलता। किन्तु उन महापुरुष ने रहस्योद्घाटन किया कि इनमें से एक भी सम्यग्दर्शन नहीं है। इन सबकी समग्रता में भी प्रचंड अन्तर-पुरुषार्थ के बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता। यह भी नितांत असत्य है कि सम्यग्दर्शन होने पर स्वयं को उसका पता नहीं चलता। सम्यग्दर्शन का उद्भव होने पर साधक को निज शुद्ध चैतन्यसत्ता की लीनता में अतीन्द्रिय आनन्द का प्रत्यक्ष संवेदन होता है। आगम का अक्षर-अक्षर इसका साक्षी है। उन सन्त ने सम्यग्दर्शन के इस निश्चय पक्ष का ही विवेचन नहीं किया, वरन् उसके व्यावहारिक पक्ष का भी प्रबल समर्थन किया। उन्होंने कहा "सम्यग्दृष्टि मिथ्यात्व, अन्याय एवं अभक्ष्य का सेवन नहीं करता। उसका लोक- जीवन बड़ा

पवित्र होता है। वह स्वप्न में भी अतत्त्व एवं असत्य का समर्थन नहीं करता। वही सच्चे देव, गुरु, धर्म का सच्चा उपासक होता है। जीवन में इस विशुद्धि के प्रादुर्भाव के बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता। उसका जन्म पवित्र मनोभूमि में ही होता है।''

सम्यग्दर्शन की गरिमा को गाते-गाते वे सन्त विभोर हो जाते हैं। वे कहते हैं- सम्यग्दर्शन जीवन की कोई महान उपलब्धि है। वह जीवन-तत्त्व एवं जीवनकला है। उसके बिना जीवन, मृत्यु का ही उपनाम है। ज्ञान में स्व-पर का भेद समझने की क्षमता होने पर सम्यग्दर्शन हर परिस्थिति में हो सकता है। सातवें नरक की भयंकरता अथवा स्वर्गों की सुषमा उसमें बाधक नहीं होती। कर्मकाण्ड के कठिन विधान उसकी उत्पत्ति में मदद नहीं करते। उसे घर नहीं छोड़ना है, देह का विसर्जन नहीं करना है वरन् घर एवं देह में रहकर ही उनसे अहं तोड़ना है। इसीलिए सम्यग्दर्शन सरल है। कठिन की कल्पना ही कठिनाई है। सम्यग्दर्शन अनुकूल अथवा प्रतिकूल परिस्थिति का दासत्व स्वीकार नहीं करता। इसीलिए नरक एवं स्वर्ग के विषम वायुमण्डल में भी 'मैं नारकी नहीं', 'मै देव नहीं' वरन् 'मै तो अक्षय चैतन्य तत्त्व हूँ' ऐसे अविराम संचेतन में उसका जन्म हो जाता है। इसीलिए वह हर गति में होता है।'' *इस युग में सम्यग्दर्शन श्री कानजीस्वामी की एक ऐसी शोध है जिसने मृत्यु की ओर बढ़ते युग के चरण जीवन की ओर लौटा दिये हैं। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि उस संत के सम्यग्दर्शन ने मृत्यु को ही मारकर विश्व से उसकी सत्ता ही समाप्त कर दी है।*

श्री कानजीस्वामी एवं चारित्रः- सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान की तरह पूज्य गुरुदेव ने चारित्र का भी एक प्राञ्जल स्वरूप प्रस्तुत किया। वे चारित्र के महान उपासक हैं। चारित्रवन्त दिगम्बर सन्तों के अन्तर-बाह्य स्वरूप का वर्णन करते-करते वे अघाते नहीं हैं। सहस्त्रों बार उनके अन्तस्तल से ये उद्‌गार सहज ही निकल पड़ते हैं कि ''ऐसे वन-विहारी नग्न दिगम्बर वीतराग सन्तों के दर्शन हमें कब प्राप्त हों और वह अवसर कब आवे जब उस आनन्दमय नग्न दिगम्बर दशा की हमें उपलब्धि हो।'' कुन्दकुन्द एवं अमृतचन्द्र जैसे अनन्त भावलिंगी सन्तों के चरणों में उनका मस्तक सदा नत रहता है। आनन्द में झूलते दिगम्बर सन्तों के हृदय के मर्म को आज वे ही पहिचान पाये हैं। मुनित्व के बाह्य इतिवृत्तों में मुनि का आत्मा खो गया था। चारित्र को कठिन एवं कष्टसाध्य माना जाता था। चारित्र के उस महान उपासक की वाणी के माध्यम से चारित्र का सही स्वरूप आज निखरा है। कोरे शुभ अनुष्ठानों की काली कारा में चारित्र जैसे जीवन-तत्त्व को कैद करने के सभी प्रयत्न आज उस सन्त ने विफल कर दिये हैं। उन्होंने शंखनाद फूँका **"चारित्र न तो घरबार आदि बाह्य संयोगों का वियोग**

मात्र है और न कर्मकाण्ड की छलांगें न कोरा नग्नत्व ही चारित्र है और न महाव्रत, समिति आदि का पराश्रित शुभाचार। उपसर्ग एवं भयंकर कायक्लेश भी नहीं, वरन् स्वरूप में अन्तर्लीन आनन्द वृत्ति ही चारित्र है।"

श्री कानजीस्वामी ने चारित्र के अनिवार्य सहचर शुभाचार का भी, जिसे व्यवहार चारित्र कहते हैं, पूरा समर्थन किया। उन्होंने कहा, **"शुभाचार जो मात्र मंद कषाय की ही पर्याय है उसे चारित्र मानना तो मिथ्यादर्शन है ही किन्तु वीतराग चारित्र के अनिवार्य सहचर शुभाचार का सत्व ही स्वीकार न करना भी समान कोटि का मिथ्यादर्शन ही है।"** मुनित्व की भूमिका में उग्र चारित्र के साथ रहने वाले शेष कषायांश इतने मंद हो जाते हैं कि उनकी अभिव्यक्ति २८ मूलगुणरूप शुभाचार के रूप में होती है। अतएव श्री कानजीस्वामी कहते हैं कि यद्यपि नग्नता मुनित्व नहीं किन्तु मुनि नग्न ही होते हैं और अन्तरंग परिग्रह के अभाव के साथ उनके तिल-तुष मात्र भी बाह्य परिग्रह नहीं होता। मुनि का स्वरुप जमाने के अनुसार नहीं बदलता वरन् उसका त्रैकालिक स्वरूप एक ही होता है। उन्होंने व्यवहार चारित्र का बड़ा सुन्दर स्पष्टीकरण किया और कहा कि "व्यवहार (शुभभाव) कोई चारित्र नहीं है वरन् वह तो अचारित्र भाव में चारित्र का आरोप मात्र है, क्योंकि अन्तरंग वीतराग चारित्र के साथ वह शुभ भाव-भूमि नियम से होती है तथा उस शुभ भाव-भूमि के प्रकट हुए बिना वीतराग

चारित्र भी प्रकट नहीं होता। इसी अनुरोध से मन्द कषायरूप उस अचारित्र भाव को भी चारित्र कहने की एक पद्धति है और इसी पद्धति को व्यवहारनय कहते हैं। किन्तु वस्तुतः चारित्र तो आनन्दमय वीतराग भाव ही है और वही मोक्षमार्ग है। मन्द कषायरूप व्यवहारचारित्र चारित्र का विकार मात्र है। वह थोड़ा भी चारित्र नहीं है और सर्व ही बन्धस्वरूप है।"

सम्यग्दृष्टि को जीवन में सदा ही चारित्र के प्रादुर्भाव की उग्र भावना प्रवर्तित होती है। उसे भले ही पुरुषार्थ की निर्बल गति के कारण चारित्र नहीं होता किन्तु वह कभी भी चारित्र की आनन्दमय वृत्ति के प्रति उदासीन एवं प्रमादी भी नहीं होता। अतः निश्चित ही उसे इस भव अथवा भवान्तर में चारित्र का उदय होता है। मोक्षमार्ग की क्रमिक भूमिकाओं का उल्लंघन करके जल्दबाजी करने से चारित्र नहीं आता, वरन् शुद्ध चैतन्य-तत्त्व की उग्र भावना से ही जीवन में चारित्र का उदय होता है।

श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र का तो विशद विवेचन श्री कानजीस्वामी की वाणी में हुआ ही है, किन्तु साथ ही जैनदर्शन के आधारभूत सिद्धान्त निश्चय-व्यवहार, निमित्त-उपादान एवं आर्हत्-दर्शन का प्राण अनेकांत आदि का जो अत्यन्त प्रामाणिक, आगम-सम्मत एवं सतर्क प्रतिपादन हुआ है वह चित्त को चकित कर देता है। सम्भवतः जैनदर्शन का आधारभूत कोई सिद्धान्त ऐसा नहीं है, जिसमें उनके ज्ञान

एवं वाणी का व्यवसाय नहीं हुआ हो। आध्यात्म का ऐसा सांगोपांग एवं व्यापक विवेचन तो शताब्दियों में नहीं हुआ। बयालीस वर्ष से अध्यात्म की बरसातें करती हुई उनकी प्रज्ञा ने अज्ञान की जड़े हिला दी हैं। तीर्थंकरों एवं वीतराग सन्तों के हृदय का मर्म खोलकर उन्होंने हमें तीर्थकरों के युग तक पहुँचा दिया है। उनकी प्रज्ञा ने आगम के गंभीर रहस्यों की थाह लेकर जो मर्म निकाले हैं वह इस युग का एक आश्चर्य-सा लगता है। वाणी का यह कमाल कि बयालीस वर्ष के धारावाहिक प्रवचनों में कही भी पूर्वापर विरोध नहीं है।

आत्मप्रसिद्धि, नयप्रज्ञापन एवं अध्यात्म संदेश जैसी साहित्यिक निधियाँ उनकी निर्मल एवं पैनी प्रज्ञा के ऐसे प्रसव हैं जिन्हें देखकर आज के युग का बौद्धिक अहं उनके चरणों की धूल में धूसरित होकर गर्व का अनुभव करेगा। उनके प्रवचनों से कल्पनातीत आध्यात्मिक साहित्य का सर्जन हुआ है। शाश्वत शान्ति के विधि-विधानों से भरे उनके आध्यात्मिक साहित्य ने भारतीय साहित्य का शीश विश्व में ऊँचा किया है। वह साहित्य युग-युग तक शान्ति के पिपासुओं को सच्ची शान्ति का दिशा-निर्देशन करता रहेगा। *उन्होनें जिस आध्यात्मिक क्रान्ति को जन्म दिया है, उसने युग के प्राण मौत के मुँह से निकाल दिये हैं।* आज जन-जन के श्वास-प्रश्वास में अमरत्व का संचार होने लगा है। आज के त्रस्त जन-जीवन को उनकी वाणी में सही राह एवं राहत

मिली है। अतः निष्पक्ष दृष्टि से श्री कानजीस्वामी का युग भारतीय इतिहास एवं श्रमण संस्कृति का निश्चित ही एक स्वर्ण युग होगा। उन्होंने भारतीय इतिहास में एक बेजोड़ अध्याय जोड़ा है। वे उस क्रान्ति के उन्नायक महामानव हैं जिसका जन्म रक्त में नहीं विरक्त में होता है। जिस क्रान्ति के उदय में आत्मा क्लान्ति का नहीं वरन् मंगलमय शान्ति का संवेदन करता है। लक्ष-लक्ष मानवों ने उनकी इस शान्तिवाहिनी क्रान्ति का समर्थन किया है और उसके सत्य को परख कर उसमें दीक्षित हुए हैं। आज लोक का यह स्वर कि "यदि यह मुक्तिदूत नहीं होता तो हमारी क्या दशा होती ?" लोक हृदय की सच्ची अभिव्यंजना है। **निस्संदेह श्री कानजीस्वामी लोक मांगल्य की प्रतिष्ठा करने वाले एक लोकदृष्टा एवं लोकसृष्टा युगपुरुष हैं।**

इन महापुरुष का अन्तर जैसा उज्ज्वल है, बाह्य भी वैसा ही पवित्र है। उनकी अत्यन्त नियमित दिनचर्या, सात्विक एकरूप एवं परिमित आहार, आगम सम्मत सत्य सम्भाषण, करुण एवं सुकोमल हृदय उनके विरल व्यक्तित्व के अभिन्न अवयव हैं। 87 वर्ष की अति वृद्ध अवस्था में भी उनकी दिनचर्या इतनी नियमित एवं संयमित है कि एक क्षण भी व्यर्थ नहीं जाता। "समयं गोयम मा पमायए" की वीरवाणी उनके जीवन में अक्षरशः चरितार्थ हुई है। शुद्धात्मतत्त्व का अविराम चिन्तन एवं स्वाध्याय ही उनका जीवन है। जैन

श्रावक के पवित्र आचार के प्रति वे सदैव सतर्क एवं सावधान हैं। उसका उल्लंघन उन्हें सह्य नहीं है। उनके जीवन का प्रत्येक स्थल अनुकरणीय है। निश्चित ही वे इस जगत् के वैभव हैं और युग उन्हें पाकर गौरवान्वित हुआ है।

वे युगपुरुष युगों-युगों तक मुक्ति का संदेश प्रसारित करते हुए युग-युग जीवें, यही आज युग के अन्तस् की एकमात्र कामना है।

मैं उन युगपुरुष की 87 वीं जयन्ती के पुण्य-पर्व पर अपनी श्रद्धा के अनन्त सुमन उनके चरणों में चढ़ाता हूँ।

(यह लेख पूज्य गुरुदेव की 87वीं जन्म जयंती पर लिखा गया है।)

ज्ञान-स्वभाव

श्री समयसार परमागम में आत्मा को ज्ञानमात्र ही कहा है। लोक में भी किसी एक ऐसी विशेषता की अपेक्षा किसी व्यक्ति को सम्बोधित करने की पद्धति है कि जो उसका सम्पूर्ण प्रतिनिधित्व कर सके। जैसे किसी व्यक्ति को न्यायाधीश के नाम से सम्बोधित करते हैं। न्यायाधीशत्व उसकी एक ऐसी विशेषता है जिससे वह सब मनुष्यों से भिन्न पहिचाना जाता है। यद्यपि उसमें अन्य सामान्य मनुष्यों जैसी तथा व्यक्तिगत अपनी अनेक विशेषताएँ भी हैं। वह केवल न्यायाधीश ही नहीं है किन्तु न्यायाधीश संज्ञा में उसका संपूर्ण सामान्य-विशेष व्यक्तित्व गर्भित हो जाता है। अतः न्यायाधीश शब्द उसका सम्पूर्ण प्रतिनिधित्व करता है। अर्थात् वह व्यक्ति जितना कुछ है वह सब न्यायाधीशत्व में समवेत है। इसी प्रकार ज्ञान आत्मा के अनन्त गुण धर्मो के समान यद्यपि आत्मा का एक गुण विशेष ही है, किन्तु उसके बिना आत्मा पहिचाना ही नहीं जा सकता। ज्ञान का व्यापार प्रगट अनुभव में आता है। अन्य शक्तियों में यह विशेषता नहीं है। अतः 'उपयोगो लक्षणम्' की छाया में अनन्त पदार्थों के समुदाय इस घुले-मिले से विश्व में ज्ञान से ही आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्त्व एवं व्यक्तित्व सिद्ध होता है। न केवल

आत्मा वरन् जगत के अस्तित्व की सिद्धि भी ज्ञान ही करता है। ज्ञान जगत के निगूढ़तम रहस्यों का उद्घाटन करता है। अतः ज्ञान ही आत्मा का सर्वस्व है और उसके बिना विश्व में आत्म-संज्ञक किसी चेतनतत्त्व की कल्पना ही व्यर्थ है। ज्ञान के स्वभाव को हृदयंगम कर लेने पर सम्पूर्ण आत्म-स्वभाव की समझ ही सुलभ हो जाती है। अतः मनीषी ऋषि कुन्दकुन्द ने अपने समयसार परमागम में आत्मा को ज्ञानमात्र ही कहा है। **ज्ञान-मात्र कहने में आत्मा का मात्र ज्ञान गुण नहीं, वरन् अनन्त गुणधर्मों के समुदाय एक अखंड ज्ञायक आत्मा की ही प्रतीति होती है। ज्ञान की स्मृति मात्र में ही अखंड चेतन तत्व अपनी अनन्त विभूतियों के साथ दृष्टि में आता है। ज्ञान के एक क्षण के परिणमन को देखिये उसमें आत्मा का सर्वस्व ही परिणमित है, अतः आत्मा मानों ज्ञान ही है अन्य कुछ नहीं। इस प्रकार गुण-गुणी की अभेद दृष्टि में ज्ञान आत्मा ही है।**

यह ज्ञान आत्मा का त्रैकालिक स्वभाव है। जो स्वभाव त्रैकालिक होता है उसका वस्तु से कभी व्यय नहीं होता और वस्तु की भाँति वह सदा पूर्ण अखंड और शुद्ध होता है। वस्तु उस स्वभाव की ही बनी होती है। अतः वह कभी उससे पृथक् नहीं किया जा सकता, जैसे-उष्णता अग्नि का स्वभाव है, उष्णता अग्नि का सर्वस्व ही है।

ज्ञान का स्वभाव जानना अर्थात् वस्तु का सर्वांग प्रतिभासन करना है क्योंकि स्वभाव असहाय, अकृत्रिम एवं निरपेक्ष होता है अतः ज्ञान भी जगत से पूर्ण निरपेक्ष एवं असहाय रहकर अपना अनादि-अनन्त जानने का व्यापार करता रहता है। अपने जानने के कार्य के सम्पादन हेतु ज्ञान को जगत से कुछ भी आदान-प्रदान नहीं करना पड़ता। दर्पण के समान ज्ञान की वस्तु को जानने की रीति यह है कि वह सदा एकरूप अखण्डस्वरूप को सुरक्षित रखकर ज्ञेयाकार (ज्ञेय जैसे आकार) परिणत होता रहता है। **ज्ञेयाकार (ज्ञानाकार) परिणति ज्ञान का विशेष भाव है और उस ज्ञेयाकार परिणति में ज्ञानत्व का अन्वय उसका सामान्यभाव है।** जैसे दर्पण अपने स्वच्छ स्वभाव से वस्तुओं को अपने में प्रतिबिंबित करता है। दर्पण में वस्तुओं के अनेक आकार-प्रकार बनते-बिगड़ते रहते हैं किन्तु दर्पण प्रत्येक परिवर्तन में अक्षुण्ण रहता है। वस्तुओं के अनेक आकार-प्रकार के संगठन एवं विघटन में दर्पण की एकरूपता अप्रभावित रहती है। साथ ही उन आकार-प्रकारों से दर्पण की स्वच्छता को आँच नहीं आती। जैसे दर्पण में अग्नि प्रतिबिंबित होती है किन्तु दर्पण में अग्नि के प्रतिबिंब से न तो दर्पण टूटता है और न गर्म ही होता है क्योंकि दर्पण में जो अग्नि दिखाई देती है, वह साक्षात् अग्नि नहीं वरन् वह तो दर्पण की अपनी अग्नि हैं वह दर्पण की अपनी पर्याय है। अतः वस्तुतः

वह दर्पण ही है। दर्पण में प्रतिबिंबित अग्नि की रचना के नियामक उपादान दर्पण के अपने स्वतंत्र हैं। अपनी अग्नि की रचना में दर्पण ने बाह्य अग्नि से कुछ भी सहयोग नहीं लिया है। यह अग्नि दर्पण की अपनी स्वतन्त्र सृष्टि एवं संपत्ति है। दर्पण की अग्नि का आकार बाह्य अग्नि तुल्य होते हुए भी बाह्य अग्नि इसमें रंच मात्र भी कारण नहीं है, तथा बाह्य अग्नि जल रही है इसलिये दर्पण में अग्नि प्रतिबिंबित हो रही है, यह भी नितांत असत्य है। यदि ऐसा स्वीकार कर लिया जाए तो वस्तुओं को प्रतिबिंबित करना दर्पण का स्वभाव नहीं रह जाएगा। दर्पण का स्वभाव अग्नि सापेक्ष होकर 'स्वभाव' संज्ञा को खो देगा। वस्तुतः दर्पण के स्वच्छ स्वभाव में यदि अग्न्याकार परिणमन की शक्ति और योग्यता न हो तो सारा विश्व मिलकर भी उसे अग्न्याकार नहीं कर सकता और यदि स्वयं दर्पण में अग्न्याकार होने की शक्ति एवं योग्यता है तो फिर उसे अग्नि की क्या अपेक्षा है? *जो शक्ति शून्य है उसे शक्ति नहीं दी जा सकती और जो शक्तिमय है उसे अपनी शक्ति के प्रयोग में किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं होती।* जगत की कोई भी वस्तु पर सापेक्ष रहकर अस्तित्व नहीं रख सकती। यदि दर्पण में प्रतिबिंबित अग्नि का कारण बाह्य अग्नि है तो पाषाण में भी अग्नि प्रतिबिंबित होनी चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता। अतः अपनी अग्नि की रचना की सम्पूर्ण सामग्री दर्पण के अपने अक्षय कोष में ही पड़ी है उसे

किसी से कुछ उधार नहीं लेना पड़ता।

इस चर्चा में ऐसा तर्क भी प्रस्तुत किया जाता है, कि यदि बाह्य अग्नि दर्पणाग्नि का कारण नहीं है, और दर्पण में उस समय अग्न्याकार परिणमन की स्वतन्त्र योग्यता है तो फिर जब अग्नि न हो तब भी दर्पण का अग्न्याकार परिणाम होना चाहिए अथवा अग्नि की समक्षता में भी दर्पण में अग्नि प्रतिभासित न होकर कुछ अन्य प्रतिभासन होना चाहिए। विचित्र तर्क है, यह तो दर्पण के स्वभाव की स्वतन्त्रता पर सीधा प्रहार है। यदि दर्पण के समक्ष अग्नि हो और वह वैसी की वैसी दर्पण में प्रतिबिंबित न हो तो फिर हम दर्पण किस वस्तु को कहेंगे। वस्तुत जैसी हो वैसी ही उसे प्रतिबिंबित करे उसे ही तो दर्पण कहते हैं। पुनः यदि अग्नि के अभाव में भी दर्पण में अग्नि प्रतिबिंबित हो अथवा अग्नि की समक्षता में दर्पण में अग्नि के स्थान पर घट प्रतिबिंबित हो तो दर्पण की प्रामाणिकता ही क्या कहलायेगी। अतः अग्नि का भी होना और दर्पण में भी सांगोपांग वही प्रतिबिंबित होना यही वस्तुस्थिति है और यही वस्तु स्वभावगत अनादि-निधन नियम भी है। इसमें पारस्परिक कारण-कार्य भाव से उत्पन्न किसी परतन्त्रता अथवा सापेक्षता के लिये रंच भी अवकाश नहीं है, इस प्रकार दर्पण और उसका अग्न्याकार अग्नि से सर्वथा पृथक् तथा निर्लिप्त ही रह जाता है।

दर्पण के समान ज्ञान भी ज्ञेय से अत्यंत निरेपक्ष रहकर अपने ज्ञेयाकार (ज्ञानाकार) का उत्पाद-व्यय करता है। ज्ञान में ज्ञेय या ज्ञेयाकार के इस अभाव को ज्ञान का 'अतत्' स्वभाव कहते हैं और अनेक ज्ञेयों के आकार परिणमित होकर भी प्रत्येक ज्ञेयाकार (ज्ञानाकार) में ज्ञानत्व की धारावाहिकता कभी भंग नहीं होती। अर्थात् ज्ञान के प्रत्येक ज्ञेयाकार (ज्ञानाकार) में ज्ञान सामान्य का अन्वय अखण्ड तथा अपरिवर्तित है। ज्ञान के प्रत्येक ज्ञेयाकार में ज्ञान ही प्रतिध्वनित होता है, इसे आगम में ज्ञान का 'तत्' स्वभाव कहा है। अपने में अनन्त लोकालोक रूप चित्र विचित्र ज्ञेयाकार नियत समय में उत्पादन करने में ज्ञान अत्यंत स्वतन्त्र है। इसमें उसे लोकालोक की कोई अपेक्षा नहीं है। न उसे लोक से कुछ लेना पड़ता है और न कुछ देना पड़ता है। **"ज्ञान में जो लोकालोक प्रतिबिंबित होता है, ज्ञान के उस ज्ञेय जैसे आकार की रचना ज्ञान की उपादान सामग्री से होती है। लोकलोकरूप निमित्त की उसमें रंच भी कारणता नहीं है। अतः ज्ञान लोकालोक को जानता है यह कथन व्यवहार ही है, वास्तव में ज्ञान ज्ञेयोन्मुख न होकर स्वतंत्र रूप से अपने ज्ञेयाकारों को ही जानता है।"**

जैसे हम किसी अट्टालिका की कल्पना करते हैं। अट्टालिका तो पाषाण की बनी होती है किन्तु हमारी कल्पना की अट्टालिका तो हमारी कल्पना से बनी है पाषाण से नहीं।

इसी प्रकार ज्ञान के ज्ञेयाकार सब ज्ञान की ही सृष्टि हैं और वे ज्ञेय से अत्यन्त भिन्न ही रहते हैं। तथा जगत में ज्ञेय हैं इसलिये ज्ञान में प्रतिबिंबित होते हैं, यह तर्क ही भ्रम मूलक है जो ज्ञान की अप्रतिहत शक्ति की अवहेलना करके ज्ञान के क्लैव्य की घोषणा करता है। ज्ञेय जैसा आकार ज्ञान में जानने का यह अर्थ तो कदापि नहीं हो सकता कि ज्ञान का वह कार्य ज्ञेय की कृपा से निष्पन्न हुआ है। यह तो ज्ञान की स्वच्छता तथा प्रामाणिकता का ही प्रतीक है। जगत में सदृशकार्य तो अनेक होते हैं किन्तु किसी की कृपा की उनमें कोई अपेक्षा नहीं होती। जैसे हमारे पड़ौसी के घर भात बनाया जाय और हमारे यहाँ भी भात बनाया जाय तो हमने पड़ौसी का अनुकरण करके अथवा पड़ौसी से कुछ लेकर तो अपना भात नहीं बनाया, हमारा भात स्वतंत्र रूप से अपने नियत समय में हमारी संपत्ति से बना है और इसी प्रकार पड़ौसी का भी, दोनों में कोई सम्बन्ध ही नहीं बनता। हाँ, **सादृश्य तो दोनों में है, किन्तु सम्बन्ध कुछ भी नहीं है।** इसी प्रकार ज्ञान में कोई ज्ञेय अथवा घट प्रतिबिंबित होता है तो ज्ञान घटाकार तो ज्ञान की अपनी शक्ति से अपने नियत समय में उत्पन्न हुआ है, मिट्टी का घट तो पहले भी विद्यमान था किन्तु ज्ञान का घट पहले नहीं था। ज्ञान ने अपने क्रमबद्ध प्रवाह में अपना घट अब बनाया है और उस घटाकार की रचना में ज्ञान में मृण्मय घट का अनुकरण नहीं किया है

वरन् ज्ञान का घटाकार, मृण्मय घटाकार से नितांत पृथक् ज्ञान का अपने समय का स्वतंत्र निरपेक्ष उत्पादन है। ज्ञान में घटाकार की रचना, ज्ञान के अनादि अनंत प्रवाह-क्रम में नियत क्षण में ही हुई है। इसके एक क्षण भी आगे-पीछे की कल्पना एकांत मिथ्या है। 'ज्ञान के सामने घड़ा है' अतएव घट ही प्रतिबिंबित हुआ यह बात तर्क और सिद्धांत की कसौटी पर भी सिद्ध नहीं होती। यदि उसे सिद्धांततः स्वीकार कर लिया तो लोकालोक तो सदा ही विद्यमान हैं, केवलज्ञान क्यों नहीं होता? पुनः यदि पदार्थ ज्ञान का कारण हो तो फिर सीप के दर्शन से चाँदी की भ्रांति क्यों हो जाती है? अथवा वस्तु के न होते हुए भी केश मशकादि का ज्ञान कैसे उत्पन्न हो जाता है तथा भूत और भावी पर्यायें तो वर्तमान में विद्यमान नहीं हैं उनका ज्ञान कैसे हो जाता है। अतः ज्ञेय से ज्ञान की सर्वाङ्गीण निरपेक्षता निर्विवाद है।

इस लोक में ज्ञान का ऐसा अद्भुत स्वभाव है और इस निरपेक्ष, निर्लिप्त निरावरण ज्ञान-स्वभाव की प्रतीति एवं अनुभूति भव-विनाशिनी है। **ज्ञानी जानता है कि जिस समय जो ज्ञेय मेरे ज्ञान में प्रतिबिंबित दीख पड़ता है वह सब ज्ञान का ही आकार है। वह सब मैं ही हूँ और वह प्रतिबिंब मेरा ही स्वभाव** है। ज्ञान का वह आकार ज्ञेय से नितांत रीता है। उसमें ज्ञेय का एक अविभाग प्रतिच्छेद भी प्रविष्ट नहीं है और वह आकार मेरे ज्ञान के

नियत स्वकाल में मेरे ज्ञान से ही उत्पन्न हुआ है और वही उत्पन्न होने योग्य भी है। अन्य परिणाम को उस समय मेरे ज्ञान के प्रवाह में उत्पन्न होने का अवकाश एवं अधिकार नहीं है। इसमें 'यह क्यों' आया और अन्य 'क्यों नहीं' यह प्रश्न ही नहीं रहता। ज्ञान में प्रतिबिंबित ज्ञेयाकार के सम्बन्ध में जिसको 'क्यों' यह विषमभाव उत्पन्न होता है वह वस्तुतः ज्ञान के ज्ञेयाकार ज्ञान-स्वभाव और आत्मा का ही अभाव चाहता है। ज्ञान-स्वभाव की यह प्रतीति निर्भयता एवं निःशंकता को जन्म देती है। ज्ञानी इस प्रतीति में सदा ही निश्चिंत है कि मेरी ज्ञान-परिधि में जगत का प्रवेश ही निषिद्ध है। **अतः अनेकाकार होकर भी ज्ञान निर्मल ही रहता है और वे अनेकाकार भी ज्ञान ही के विशेष होने के कारण ज्ञान ही हैं।** ज्ञान के ये विशेष किसी व्यवस्था की वस्तु नहीं किन्तु सहज ही अपने नियत समय में ज्ञान सामान्य में से उत्पन्न होते रहते हैं अतः ज्ञानी इन विशेषों का भी तिरोभाव करके त्रैकालिक ज्ञान-सामान्य पर ही अपनी दृष्टि केन्द्रित करता है और निरन्तर शुद्ध ज्ञान अर्थात् शुद्धात्मा ही उसकी अनुभूति में अवतीर्ण होता है।

इसके विपरीत अज्ञानी सदा ही ज्ञेयाकारों के ज्ञान में प्रवेश की भ्रांति से उद्वेलित रहता है। उसे ऐसा लगता है कि ये इन्द्रियों के विषय मेरे भीतर ही चले आ रहे हैं। वस्तुतः तो इन्द्रिय विषय ज्ञान में प्रतिबिंबित मात्र होते हैं। ज्ञान के

प्रतिबिंब को अज्ञानी साक्षात् ज्ञेय ही समझता है। अतः उसे सदा ज्ञेय मिश्र ज्ञान की अशुद्ध अनुभूति ही होती है। श्री समयसार परमागम की १५ वीं गाथा की टीका में आचार्य श्री अमृतचन्द्र इसका अत्यंत मार्मिक चित्रांकन करते हैं–

"अनेक प्रकार के ज्ञेय के आकारों के साथ मिश्ररूपता से उत्पन्न सामान्य के तिरोभाव और विशेष के आविर्भाव से अनुभव में आनेवाला (विशेष भावरूप, भेदरूप, अनेकाकाररूप) ज्ञान वह अज्ञानी ज्ञेय-लुब्ध जीवों के स्वाद में आता है किन्तु अन्य ज्ञेयाकार की संयोग रहितता से उत्पन्न सामान्य के आविर्भाव और विशेष के तिरोभाव से अनुभव में आनेवाला एकाकार अभेदरूप ज्ञान स्वाद में नहीं आता और परमार्थ से विचार किया जावे तो, जो ज्ञान विशेष के आविर्भाव से अनुभव में आता है वही ज्ञान सामान्य के आविर्भाव से अनुभव में आता हैं। अलुब्ध ज्ञानियों को तो जैसे सेंधव की डली, अन्य द्रव्य के संयोग का व्यवच्छेद करके केवल सेंधव का ही अनुभव किये जाने पर सर्वतः एक क्षार-रसत्व के कारण क्षार रूप से स्वाद में आती है, उसी प्रकार आत्मा भी परद्रव्य के संयोग का व्यवच्छेद करके केवल आत्मा का अनुभव किया जाने पर सर्वतः एक विज्ञानघनता के कारण ज्ञानरूप से स्वाद में आता है।"

वस्तुतः ज्ञान-सामान्य की विस्मृति कर देने पर ज्ञान के अनेकाकार की सृष्टि न बनकर ज्ञेय की सृष्टि बन जाती है

और शाक तथा लवण के मिश्रण की भाँति अज्ञानी को सदा ही 'यह देह मैं ही हूँ' यह ज्वर मुझे ही है, ऐसा मिश्र स्वाद आता है। किन्तु ज्ञानी को तो सदा ही ज्ञान सामान्य की ही स्मृति है। मेरा ज्ञान ज्वर तथा देहाकार परिणत होने पर भी मैं देह तथा ज्वर से भिन्न ज्ञान ही हूँ, ज्ञान को देह नहीं और कभी ज्वर चढ़ता ही नहीं। अतः ज्ञान के ज्वराकार और देहाकार परिणाम भी ज्ञानी को दृष्टव्य नहीं। इससे यह तर्क भी अपेक्षित नहीं कि यदि निरन्तर ज्ञान सामान्य की ही दृष्टि रहे तो फिर ज्ञान के विशेषों का क्या होगा? वस्तुतः ज्ञान तो सहज ही ज्ञेय निरपेक्ष रहकर अनेकाकार परिणत होता रहता है। किसी प्रबन्ध के बिना ही वे अनेकाकार ज्ञान में होते रहते हैं। जैसे हमारे घर में झूलते हुए दर्पण में पड़ौसी के मकान, मनुष्य आदि सहज मौन भाव से प्रतिबिंबित होते रहते हैं, हम उसकी व्यवस्था नहीं करते और दर्पण के वे खण्ड भाव (प्रतिबिंब) हमारे प्रयोजन की वस्तु भी नहीं होते। यद्यपि वे हमारे जानने में अवश्य आते हैं, किन्तु हमारी अविरल दृष्टि तो अपने अखण्ड दर्पण पर ही केन्द्रित रहती है। यदि हमारी दृष्टि उन खण्ड भावों और प्रतिबिंबों पर केन्द्रित हो जाए और हम दर्पण की अखण्डता को विस्मृत कर दें तो हमें लगेगा कि हमारे दर्पण में तो कोई मनुष्य अथवा मकान प्रविष्ट हो गया। अतः हम विह्वल हो उठेंगें, किन्तु इन अनेकाकारों में भी दर्पण तो ज्यों का त्यों विद्यमान

है यह दृष्टि और प्रतीति निराकुलता को जन्म देती है।

अज्ञानी मानता है 'मुझे धन मिला', किन्तु वस्तुतः अज्ञानी के ज्ञान को भी धन का एक आकार मात्र मिला है, धन तो मिला नहीं है। अज्ञानी धन मिलने की कल्पना से ही हर्षित होता रहता है। इसी प्रकार अग्नि के संयोग में अज्ञानी मानता है मैं जल रहा हूँ, किन्तु वस्तुतः अग्निज्वाल ज्ञान में प्रतिबिंबित मात्र हो रही है, ज्ञान तो जल नही रहा है। यदि अग्नि से ज्ञान जलने लगे तो अग्नि की उष्णता को कौन जानेगा? किन्तु अज्ञानी 'मैं जल रहा हूँ' इस कल्पना से ही विह्वल हो उठता है। वस्तुतः ज्ञान को ज्ञेय से कुछ भी तो नहीं मिलता है वह तो अपने उन ज्ञेयाकारों में भी उतना का उतना ही रहता है। हमारे दर्पण में प्रतिबिंबित किसी अट्टालिका से हम अपने को लाभान्वित तो नहीं मानते और उस अट्टालिका के दर्पण से ओझल हो जाने पर शोकान्वित भी कहाँ होते हैं। इस परिस्थिति में हर्ष या शोक तो किसी बालक का ही कार्य हो सकता है किन्तु यह दृष्टि तो हमें निरन्तर ही बर्तती है। हमारे घर में स्वच्छ दर्पण झूल रहा है और हम यह भी जानते हैं कि उस दर्पण में जगत के अनेक पदार्थ भी प्रतिबिंबित होते हैं, किन्तु हमारे दर्पण में क्या-क्या प्रतिबिंबित होता है यह हमारी दृष्टि का विषय नहीं होता, वरन् उन प्रतिबिंबों के प्रति सदा हमारा उदासीन भाव ही प्रवर्तित होता है, जो भी प्रतिबिंबित होता हो, वह

दर्पण का स्वभाव ही है। दर्पण के स्वच्छ स्वभाव का विश्वास हमें यह विकल्प ही नहीं उत्पन्न होने देता कि उसमें क्या-क्या प्रतिबिंबित होता है? क्योंकि वह हमारे विकल्प अथवा व्यवस्था का विषय न होकर दर्पण का अकृत्रिम स्वभाव ही है। उसमें जो भी प्रतिबिंबित होता है सब व्यवस्थित ही है, व्यवस्था योग्य नहीं तथा वे प्रतिबिंब ममता करने योग्य भी नहीं। क्योंकि उन प्रतिबिंबों की ममता क्लेशकारिणी है। दर्पण में उन प्रतिबिंबों के आगमन पर ज्यों ही हम हर्षित होंगे, दर्पण से उनका विलय हमें शोक-सागर में निमग्न कर देगा।

अतः दर्पण विशेष की दृष्टि से उत्पन्न कल्पित हर्ष-शोक का अन्त दर्पण-सामान्य की दृष्टि से ही संभव है, अन्य कोई पथ नहीं है। इसी प्रकार ज्ञान में प्रतिबिंबित अनेक ज्ञेयाकार रूप ज्ञान के विशेषों में यद्यपि ज्ञान-सामान्य की ही व्याप्ति है ज्ञेय की व्याप्ति नहीं, किन्तु ज्ञान के वे विशेष वास्तव में आत्मा के लिये जानने मात्र के अतिरिक्त अन्य कुछ भी प्रयोजन की वस्तु नहीं हैं।

ज्ञान में वे स्वतः ही सहज भाव से निर्मित होते रहते हैं, यथा-ज्ञान में जो घट परिणत हुआ वह घटाकार स्वयं ज्ञान ही है किन्तु आत्मा उस घटाकार ज्ञान का क्या करे? अतः निरन्तर 'मैं तो ज्ञान ही हूँ

घट नहीं' यह सामान्य की दृष्टि एवं अनुभूति ही शांति प्रदायिनी है।

ज्ञान-स्वभाव की प्रतीति अनन्त प्रश्नों, अगणित घटना-चक्रों तथा असंख्य परिस्थितियों का एकमात्र समाधान है। उस दृष्टि में शुद्ध अखण्ड एकरूप ज्ञान के अतिरिक्त आत्मा में कुछ भासित ही नहीं होता। 'मैं तो ज्ञान का ध्रुव-तारा हूँ' इसमें आत्मा के साथ देह, कर्म और राग का सम्बन्ध भी कहाँ रहा? राग तो आत्मा और कर्म की संयोगी दृष्टि में भासित होता है। जैसे जल को कीच के साथ देखने पर मलिनता अनुभव में आती है किन्तु शुद्ध जल- स्वभाव के समीप जाकर देखें तो जल में कीच कहाँ है। जल तो कीच के साथ भी जल ही है। इस प्रकार कर्म और आत्मा की संयोगी दृष्टि में आत्मा में राग-द्वेष, पुण्य-पाप दृष्टिगत होते हैं किन्तु शुद्ध ज्ञान स्वभाव की समीपता में ज्ञान में न राग है, न द्वेष है, न पाप है, न देह है और न मन-वाणी है। कर्म और देह के विविध अप्रत्याशित परिणाम ज्ञान का स्पर्श भी नहीं कर पाते। प्रलयकाल के भयंकर प्लावन के बीच ज्ञानी तो अनुभव करता है कि मेरे ज्ञान में प्रलय नहीं हुआ है। मैं तो प्रलय का भी ज्ञाता ही हूँ। प्रलय के दृश्य ज्ञान में प्रतिबिंबित होते हैं किन्तु ज्ञान प्रलयाकार होने पर भी ज्ञान में प्रलय का प्रवेश नहीं होता। जैसे सागर को समर्पित पुष्पहार अथवा प्रहार, सागर के कक्ष

में चित्रितमात्र ही रह जाते हैं और सागर रोष अथवा तोष की विषम अनुभूतियों से शून्य एक रूप ही रहता है। इसी प्रकार विश्व का सर्वस्व ज्ञान में प्रतिबिंबित होने पर भी ज्ञानी उन सम्पूर्ण विशेषों का तिरोभाव करके 'मैं त्रिकाल ज्ञान ही हूँ विश्व नहीं', इस शुद्ध ज्ञान का ही चिरंतन संचेतन करता है। जगत की भयंकर प्रतिकूलताओं और सप्तमनरक की यातनाओं में भी ज्ञानी को शुद्ध ज्ञान का यह संचेतन अबाधित रहता है। जब ज्ञान को देह नहीं, तब प्रतिकूलता का अस्तित्व ज्ञानी की दुनिया में ही कहाँ रहा? प्रतिकूलता और नरक की यातना का ज्ञान में प्रवेश ही नहीं है, तब प्रतिकूलता और यातना ज्ञान को कैसी? इस प्रकार ज्ञान के वज्र कपाटों का भेदन करके कोई ज्ञान-स्वभाव में प्रविष्टि ही नहीं पाता। अतः ज्ञान त्रिकाल शुद्ध, एकरूप ही रहता है। इसी ज्ञान के शुद्ध एकत्व में प्रतिष्ठित होकर ज्ञानी शुद्ध अनुभूति के बल से निरंतर कर्मों का क्षय करता हुआ मुक्ति के पावन पथ पर बढ़ता चलता है और अन्त में मुक्ति उसका वरण कर लेती है।

वस्तुतः ज्ञानी को मुक्ति की भी चाह नहीं है। ज्ञान तो त्रिकाल मुक्त ही है। उसे नई मुक्ति अथवा सिद्ध दशा की भी अपेक्षा नहीं है। ज्ञान तो जगत के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से सदा ही मुक्त पड़ा है। ज्ञान तो नरक में भी मुक्त ही है। वह सदा ज्ञायक ही तो है। इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी

कल्पना उसके प्रति व्यर्थ है। उसे आस्रव और बंध भी नहीं है, फलतः संवर, निर्जरा और मोक्ष भी उसे नहीं है, क्योंकि जो पहिले बँधा हो, उसी के तो छूटने का प्रसंग बन सकता है। जो कभी बँधा ही नहीं, उसकी मुक्ति की वार्ता ही व्यर्थ है। लोक की हर परिस्थिति में 'मैं तो ज्ञान ही हूँ' यह दृष्टि तथा ज्ञान का यह शुद्ध-संचेतन भव के कपाटों को भेदन करके मुक्ति के पावन द्वार का उद्घाटन करता है। यही दृष्टि लोक मांगल्य की अधिष्ठात्री है, जिसमें पर्याय दृष्टि के सम्पूर्ण क्लेश का अन्त हो जाता है। विषमतम परिस्थिति में भी आनन्द के मुक्ता बिखेर कर भवप्रसूत चिर दरिद्रता का अन्त करके शांति का कोष खोल देने वाली शुद्ध ज्ञान की यह प्रतीति एवं अनुभूति चिर जयवंत वर्ते, चिरजयवंत वर्ते।

चार अभाव

अभाव का स्वरूप एवं भेदः-

एक पदार्थ में दूसरे पदार्थ के न होने को अभाव कहते हैं। अभाव के चार भेद हैं।

(1) प्रागभाव (2) प्रध्वंसाभाव
(3) अन्योन्याभाव (4) अत्यन्ताभाव

अभाव की परिभाषाः-

(1) प्रागभावः- प्राक्+अभाव् अर्थात् पूर्व में अभाव। पूर्व पर्याय में वर्तमान पर्याय के अभाव को प्रागभाव कहते हैं।

(2) प्रध्वंसाभावः- एक द्रव्य की वर्तमान पर्याय का उसी द्रव्य की भविष्य की पर्याय में अभाव होने को प्रध्वंसाभाव कहते हैं।

(3) अन्योन्याभावः- एक पुद्गल द्रव्य की वर्तमान पर्याय का दूसरे पुद्गल की वर्तमान पर्याय में अभाव होने को अन्योन्याभाव कहते हैं।

(4) अत्यन्ताभावः- एक द्रव्य में दूसरे द्रव्य के अभाव को अत्यन्ताभाव कहते हैं।

अभाव के परिज्ञान से लाभः-

(1) प्रागभाव के परिज्ञान से लाभः- प्रत्येक द्रव्य में एक समय में एक पर्याय होती है। अतः वर्तमान पर्याय से पूर्व द्रव्य में जितनी पर्यायें हो गई हैं उनसे वर्तमान पर्याय का कोइ सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता। अनेक दर्शन ऐसा मानते हैं कि एक पर्याय का संस्कार दूसरी पर्याय में चलता रहता है। यदि ऐसा माना जाय तो विकार की श्रृंखला कभी समाप्त ही नहीं होगी और इस मिथ्या श्रद्धा से चित्त सदा ही भयंकर विकलता से भारी रहेगा, क्योंकि उसे सदा ही यह अनुभव होता रहेगा कि मेरी वर्तमान पर्याय में अनादिकाल का न मालूम कितना विकार संचित है। प्रागभाव की श्रद्धा इस विकलता को समाप्त कर देती है; क्योंकि प्रागभाव का स्वरूप विदित हो जाने पर जीव को ऐसा लगता है कि मेरा संसार वर्तमान क्षण जितना ही है।

(2) प्रध्वंसाभाव के परिज्ञान से लाभः- प्रागभाव के परिज्ञान से जब जीव को यह विदित हो जाता है कि मेरा सम्पूर्ण संसार मात्र वर्तमान पर्याय जितना है तब प्रध्वंसाभाव का स्वरूप विदित होने पर उसे यह निश्चय होता है कि जैसे मेरी पूर्व पर्यायों का कोई संस्कार वर्तमान पर्याय तक नहीं आया; इसी प्रकार वर्तमान पर्याय का कोई संस्कार भविष्य तक लम्बा होने वाला नहीं है। अतः इस निश्चय से आत्मा एकदम निर्भय होता है और उसके आत्माभिमुख पुरुषार्थ को

गति मिलती है और वर्तमान पर्याय का व्यय होने पर प्रबल पुरुषार्थ से उत्तर पर्याय में धर्म को उपलब्ध कर लेता है।

(3)अन्योन्याभाव के परिज्ञान से लाभः- पुद्गल द्रव्य का पूरण और गलन स्वभाव होता है, इस कारण पुद्गल के अनेक परमाणु संयोग को प्राप्त होकर एक स्कन्ध बन जाते हैं; फिर भी उस स्कन्ध के सभी पुद्गल अर्थात् सभी परमाणु प्रतिसमय अपनी-अपनी शक्ति से अपना-अपना परिणमन भिन्न-भिन्न करते हैं। स्कन्ध की अवस्था में भी उन सबकी मिलकर एक पर्याय नहीं होती; इसलिये कालांतर में उसका विघटन भी हो जाता है। जो जीव अन्योन्याभाव के स्वरूप से अनजान होते हैं वे अनेक परमाणुओं के संयोग से बने हुये शरीरादि एवं इन्द्रियों के विषयभूत स्कन्धों में अतिमुग्ध हो जाते हैं अथवा उन्हें नहीं सुहाने वाले ऐसे ही अनेक स्कन्धों में अति द्वेषी हो जाते हैं, क्योंकि वे उस सम्पूर्ण स्कन्ध को ही एक पर्याय मानते हैं और इस प्रकार मिथ्यादृष्टि ही बने रहते हैं। किन्तु वस्तु दृष्टि सम्पन्न ज्ञानी शरीरादि को एक पदार्थ के रूप में कभी नही देखते। वे यह जानते हैं कि अनन्त पुद्गलों का यह स्कन्ध वर्तमान में भी भिन्न-भिन्न अनन्त पर्यायों वाला है और निश्चित ही यह बिखर जाने वाला है; अत मेरा स्वरूप नहीं हो सकता। फलस्वरूप ज्ञानी स्कन्ध की उन दशाओं में विमोहित नहीं होते।

(4) अत्यन्ताभाव के परिज्ञान से लाभः- अत्यन्ताभाव एक द्रव्य के साथ दूसरे द्रव्य के तादात्म्य अथवा किसी भी प्रकार के सम्बन्ध मात्र का निषेध करता है। इससे प्रत्येक द्रव्य की सम्पूर्ण स्वतन्त्रता सिद्ध हो जाती है। आत्मा को सदा से ही अत्यन्त स्वतन्त्र विश्व व्यवस्था के अज्ञान के कारण भिन्न पदार्थों में पारस्परिक सम्बन्ध दृष्टिगोचर होता रहा है और इसीलिये वह अपने से भिन्न पदार्थों में कुछ करने की छटपटाहट एवं अन्य पदार्थो से अपने में कुछ होने की आशा व आशंकाओं से निरन्तर आकुलित रहा है। अत्यन्ताभाव को स्वीकार कर लेने पर अज्ञान से उत्पन्न ये सभी दोष एवं दुःख नष्ट हो जाते हैं और आत्मा अपने को स्वतन्त्र एवं निरपेक्ष सत्ता मानकर अपनी समस्त वृत्तियों को अपनी सत्ता में ढालकर स्वाधीन आनन्द का अनुभव करता है।

अभाव को स्वीकार न करने पर उत्पन्न दोषः-

(1) प्रागभाव को स्वीकार न करने से उत्पन्न दोषः- प्रागभाव को स्वीकार न करने पर द्रव्य की वर्तमान पर्याय का उसकी पूर्व पर्याय में सद्भाव स्वीकार करना पड़ता है। इसप्रकार वर्तमान पर्याय का पूर्व पर्याय में सद्भाव स्वीकार करने से वर्तमान पर्याय अनादि हो जाती है। जबकि वस्तु व्यवस्था तो यह है कि पूर्व पर्याय का अभाव होकर वर्तमान पर्याय का जन्म होता है। अतः पूर्व पर्याय में वर्तमान पर्याय का अभाव स्वीकार न करने पर पूर्व पर्याय का भी व्यय नहीं होगा और इस प्रकार पूर्व पर्याय का प्रवाह भी अनन्त हो जाता है।

आत्मा ने प्रागभाव के सत्य को स्वीकार नहीं किया और वह यह मानता रहा है कि मेरी इस पर्याय का दोष मात्र वर्तमान तक सीमित नहीं हैं वरन् यह अनादि का है। इसप्रकार पर्यायों को परस्पर सम्बद्ध मानने पर पर्याय के दोष का परिहार संभव ही नहीं होता। अतः आत्मा को दोष से मुक्त होकर निर्दोष धर्माचरण करने का अवकाश सदा के लिये समाप्त हो जाता है।

प्रागभाव के सम्यक् बोध से जब यह जाना जाता है कि वर्तमान पर्याय किसी भी पूर्व पर्याय से जुड़ी हुई नहीं है तो उसी पर्याय में दोष को दूर करके निर्दोष धर्म के प्रादुर्भाव का पुरुषार्थ जाग उठता है। वर्तमान पर्याय का भूतकाल की अनन्त पर्यायों से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध न होने के कारण भूतकाल की समस्त पर्यायों से सम्बन्धित विकल्प छूट जाते हैं और आत्मा निर्भय एवं हल्का होकर स्वरूप रचना के पुरुषार्थ में प्रवृत्त हो जाता है।

2. प्रध्वंसाभाव को स्वीकार न करने से उत्पन्न दोषः- प्रध्वंसाभाव को स्वीकार न करने पर वर्तमान पर्याय का सद्भाव भविष्य की पर्याय में स्वीकृत होता है और इसप्रकार वर्तमान पर्याय का विकार अनन्त हो जाता है। फलस्वरूप विकार के मिटने का कोई अवकाश ही नहीं रहता।

प्रध्वंसाभाव के स्वीकार में जब यह जाना जाता है कि वर्तमान पर्याय का आगे आने वाली किसी भी पर्याय से सर्वथा कोई सम्बन्ध नहीं है तब वर्तमान विकार को मिटाने के प्रति आत्मा उत्साहित होता है और अपने पवित्र स्वरूप में उद्यमवंत होकर उत्तर पर्याय में धर्म को प्रगट कर लेता है। भविष्य की पर्यायों से वर्तमान पर्याय की स्वतन्त्रता का बोध हो जाने पर भविष्य की पर्याय सम्बन्धी समस्त विकल्प टूट जाते हैं और आत्मा का बिखरा हुआ पुरुषार्थ घनत्व को प्राप्त होकर अपनी आनन्दस्वरूप सत्ता में लीन हो जाता है। वर्तमान का विकार भविष्य की किसी पर्याय में पहुँचने वाला नहीं है इस निश्चय से आत्मा एकदम निर्भयता का अनुभव करता है।

(3) अन्योन्याभाव को स्वीकार न करने से उत्पन्न दोषः- मिलने और बिछुड़ने का स्वभाव एकमात्र पुद्गल द्रव्य का होता है। जब पुद्गल के अनेक परमाणु मिलकर स्कन्ध बन जाते हैं तो वस्तु विज्ञान से अपरिचित प्राणियों को वह स्कन्ध एक ही द्रव्य की पर्याय दिखलाई देता है और क्योंकि आत्मा को अनादि से ही पुद्गल के रूपों के प्रति ममत्व रहा है अतः उस स्कन्ध के विघटन में आत्मा के ममत्व को चोट लगती है और वह आकुलित हो उठता है।

अन्योन्याभाव का स्वरूप विदित हो जाने पर पुद्गल का स्कन्ध एक द्रव्य की पर्याय नजर नहीं आता वरन् उसमें

भिन्न-भिन्न अनेक परमाणुओं की भिन्न-भिन्न पर्यायों का दर्शन होता है। साथ-साथ रहने पर भी एक पुद्गल परमाणु की पर्याय दूसरे परमाणु की पर्याय से किसी भी प्रकार सम्बद्ध अथवा प्रभावित नहीं है, सम्यग्ज्ञान का यह कण पुद्गल द्रव्य के प्रति अनादि अज्ञान के कारण प्रवर्त्तमान कर्तृत्त्व की श्रृंखला को तोड़ देता है। इसप्रकार आत्मा अत्यन्त निर्भय होता है और पुद्गल द्रव्य के प्रति अपने सम्पूर्ण व्यामोह को समाप्त करके अपनी गौरवमय चैतन्य सत्ता के प्रति समर्पित होता है।

(4) अत्यन्ताभाव को स्वीकार न करने से उत्पन्न दोषः- अत्यन्ताभाव अर्थात् एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में अभाव स्वीकार न करने पर एक द्रव्य में अन्य सभी द्रव्यों का सद्भाव स्वीकृत होता है। अतः एक द्रव्य अन्य सर्व द्रव्यों के स्वभावरूप हो जाने से उसका कोई सुनिश्चित स्वरूप ही नहीं रह जाता। चेतन अचेतनमय हो जाता है और अचेतन चेतनमय। इस प्रकार वस्तु का कोई सुनिश्चित स्वरूप नहीं रह जाने से उसकी स्वतंत्र सत्ता ही संकट में पड़ जाती है। विश्व व्यवस्था के आलोक में देखा जाये तो एक पदार्थ में जड़ और चेतन की तरह परस्पर विपरीत दो भाव रह ही नहीं सकते हैं क्योंकि दोनों का मिश्रण हो जाने पर पदार्थ न जड़ रहता है और न चेतन और न दोनों के मिश्रण से कोई तीसरी कल्पना ही संभव होती है।

अत्यन्ताभाव के नियम में प्रत्येक पदार्थ अपनी स्वतन्त्र सीमा में सुरक्षित रह जाता है। इसप्रकार सम्पूर्ण विश्व से भिन्न अपनी सत्ता को स्वीकार कर लेने पर आत्मा को अपनी उपलब्धि निरापद हो जाती है।

दो पदार्थों का परस्पर कोई सम्बन्ध ही नहीं है ऐसा जान लेने पर आत्मा को यह विश्व भयावना अथवा सुहावना नजर नहीं आता वरन् प्रत्येक पदार्थ अपने एकत्व में व्यवस्थित दिखाई देता है। अतः पारस्परिक सम्बन्ध की भ्रान्ति से उत्पन्न आत्मा के सभी अपराधों का अंत हो जाता है और आत्मा सदा के लिए अपनी रमणीय चेतन सत्ता में लीन हो जाता हैं।

जिनेन्द्र पूजन : स्वरूप एवं समीक्षा

जैन गृहस्थ के षट् कर्मों में पूजा सर्वप्रथम आवश्यक कर्म है। पूजा एवं पूजन एकार्थवाची हैं। जैसे लोक जीवन में भोजन की आवश्यकता होती है; उसी तरह लोकोत्तर जीवन के लिए पूजन की अनिवार्यता है। जैसे शरीर की क्षुधा भोजन से शान्त होती है इसी तरह आत्म शान्ति की पिपासा पूजा से शान्त होती है; क्योंकि सच्चा जैन गृहस्थ मुक्ति का अभिलाषी होता है और सच्चे देव-शास्त्र-गुरु मुक्ति के उत्कृष्ट साधन होते हैं। अतएव जिनेन्द्र अथवा जिन प्रतिमा के समीप आकर गृहस्थ मुक्ति की साधना करता है; बल्कि ऐसा कहना चाहिए कि वह भगवान से मुक्ति की कला ही सीखता है। भगवान के मधुर गुणगान पूर्वक सचमुच पूजा करने वाला भगवान के पवित्रतम जीवन से अपने जीवन को देखता है और अपने अपराधों और कमियों का परित्याग करता हुआ एक दिन निश्चित भगवान बन जाता है। पूजा का यही सर्व-महान उद्देश्य एवं फल है।

पूजन एक ऐसा मधुर एवं सहज धार्मिक कर्म है जिसमें सम्पूर्ण तत्वज्ञान भक्ति के संगीत में घुलकर बड़ा मधुर आस्वाद देता है। जहाँ तत्वज्ञान में मस्तिष्क की प्रधानता होती है वहीं पूजा में हृदय मुख्य होता है, इसीलिए भक्ति का

यह अंग यद्यपि तत्व ज्ञान के बिना कार्यकारी नहीं होता फिर भी तत्वज्ञान का चिंतन भक्ति की कोमलभाव धारा का उल्लंघन करके उदित नहीं होता। पूजा सचमुच एक ऐसा कर्म है जिसमें पूजक अपने को पूज्य के साथ जोड़ देता है, फलस्वरूप संगीत की स्वर साधना के साथ भक्ति के भावों की स्फुरणा करता हुआ मानों बातों ही बातों में सरलता से मुक्ति ले लेता है। इसलिए पूजा किसी भी लौकिक अथवा पारलौकिक अभिलाषाओं को लेकर नहीं की जाती; क्योंकि मोक्षमार्ग एवं मुक्ति ही उसका एकमात्र पवित्र प्रयोजन होता है। किसी भी लोकिक प्रयोजन को लेकर की जाने वाली पूजा में पूजा के बाह्य विधि-विधानों की काया तो साथ रहती है पर (प्राण) भाव गायब हो जाते हैं। सच्चाई तो यह है कि किसी भी अभिलाषा को लेकर की जाने वाली पूजा में भक्त और भगवान के बीच में एक अभिलाषा खड़ी हो जाती है अतएव वह पूजा भगवान तक पहुंचती नहीं है और पुण्य की भाव-भूमि समाप्त हो जाने से पाप की ही संभावना होती है।

पूजा अभिषेक के बाद ही की जाती है; क्योंकि प्रतिमा की मनोज्ञता बनाये रखने के लिए किया गया प्रक्षालन भी एक आवश्यक पुण्य कर्म है। एक बार प्रक्षाल सम्पन्न हो जाने पर पुनः-पुनः प्रक्षाल करना प्रतिमा के साथ की जाने वाली एक अविवेकपूर्ण क्रीड़ा के समान है। पुनः-पुनः प्रक्षाल करने से प्रतिमा की मनोग्यता सुरक्षित रहने के स्थान पर

खराब हो जाती है।इसलिए पुनः प्रक्षाल का दुराग्रह अविलम्ब ही छोड़ने योग्य है।

प्रक्षाल के लिए प्रासुक पानी ही सर्वोत्तम विवेकपूर्ण सुगम एवं अहिंसक साधन है।

"पूजा" शब्द आदर के अर्थ में प्रयुक्त होता है। लोक व्यवहार में भी अपने से किसी भी रूप में बड़े पुरुषों के लिए "पूज्य" शब्द का व्यवहार किया जाता है। किन्तु धर्म व्यवहार में सच्चे देव, सच्चे शास्त्र एवं सच्चे निर्ग्रन्थ गुरु ही पूज्य होते हैं। वन्दना एवं पूजा में सम्यग्दर्शन पूर्वक चारित्र ही वन्दनीय एवं पूजनीय होता है। भगवान अरहन्त एवं सिद्ध में सम्यक् रत्नत्रय एवं उन्हीं के मार्ग का अनुशीलन करने वाले निर्ग्रन्थ वीतराग गुरु भी सम्यग्दर्शन पूर्वक चारित्रवंत होते हैं और जिनवाणी भगवान अरहन्त, तीर्थंकर एवं उन्हीं के पथ पर चलने वाले वीतरागी सन्तों की वाणी होती है जो अरहन्त परमात्मा एवं वीतरागी सन्तों की तरह हमारे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का निमित्त होकर परम उपकारी होती है। अतएव यह तीनों ही वन्दना एवं पूजा करने योग्य हैं।

सम्यग्दर्शन होने पर भी यदि वे चारित्र रहित हों तो वह देव-शास्त्र-गुरु की तरह वन्दनीय एवं पूजनीय नहीं होते। उनका यथायोग्य सम्मान होता है और उनको भी साधर्मी के रूप में नमस्कार एवं प्रणाम आदि तो सिर झुकाकर ही होते

हैं; किन्तु शरीर की क्रिया इस प्रकार होने पर भी उसे वन्दना एवं पूजा नहीं कहते। यद्यपि यथायोग्य सम्मान में भी कोई प्रतिशत नहीं होता है वह भी शत प्रतिशत ही होता है; किन्तु सम्मान के इस व्यवहार में विवेक सदा ही जागृत रहता है इसलिए मर्यादाओं का उल्लंघन नहीं होता। ऐसा नहीं होता कि जिन सम्यग्दृष्टि गुरु की कृपा से सम्यग्दर्शन हुआ है उन्हें प्रणाम करते समय यह सोचना पड़े कि इनका कितना सम्मान करूँ और ऐसा सोचकर सम्मान के भाव को हल्का कर दे अथवा भक्ति का इतना अविवेकपूर्ण अतिरेक भी नहीं होता कि संयम के अभाव में भी उनकी आठ द्रव्यों से पूजा करने लगे।

निर्ग्रन्थ मार्ग में मात्र सच्चे देव-गुरु-शास्त्र के अतिरिक्त कोई भी वन्दना एवं पूजा के योग्य नहीं होते। क्योंकि सच्चा जैन गृहस्थ अपने जीवन में एक मात्र रत्नत्रय का अभिलाषी होता है और रत्नत्रय अर्थात् मोक्षमार्ग और मुक्ति की सिद्धि मात्र सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के अवलम्बन से ही होती है। अतएव वह पद्मावती धरणेन्द्र आदि भवनवासी व्यन्तरदेव अथवा ज्योतिष एवं वैमानिक आदि देव तथा लोक के विविध प्रकार के देवी-देवता तथा ग्रह, नक्षत्र, मंगल, शनि आदि अथवा ग्रहदेव, दिहाड़ी, दवात-कलम, लक्ष्मीपत्र, बहीखाते, दुकान आदि किसी की भी वन्दना-पूजा नहीं करता। वीतराग मार्ग में धरणेन्द्र, पद्मावती, मानभद्र आदि मिथ्यादेवों की उपासना की रूढ़ी चल पड़ी है, वह गृहीत मिथ्यात्व को पुष्ट

करने वाली महान अधार्मिक प्रवृत्ति है। इनकी पूजा के सम्बन्ध में विविध प्रकार के समाधान दिये जाते हैं; किन्तु वे भी पूरी तरह आगम विरुद्ध एवं तर्क शून्य हैं।

यह कहा जाता है कि पद्मावती, क्षेत्रपाल आदि शासनदेव हैं जो समय-समय पर धर्म एवं धर्मात्माओं की रक्षापूर्वक शासन की रक्षा करते हैं; किन्तु यह मन्तव्य भी नितान्त ही तथ्यहीन है; क्योंकि धर्म एवं धर्मात्मा पर होने वाले उपसर्गों की पौराणिक एवं ऐतिहासिक परंपरा को देखा जाय तो यह शासनदेव सर्वथा असफल ही रहे हैं। धर्मात्मा पर एवं महामुनियों पर व तीर्थंकरों पर अनेक उपसर्ग हुए किन्तु इनमें से कोई रक्षा करने नहीं आये और यदि कभी किसी धर्मात्मा की विपत्ति के समय किसी देव ने रक्षा भी की हो तो उसमें उन पुरुष का पुण्य ही कारण रहा है; क्योंकि पाप के उदय में ये रक्षा करने आते ही नहीं हैं और साधर्मी वात्सल्य अथवा भक्तिवश इन्होंने किसी की रक्षा भी की हो तो वह इनका धार्मिक कर्त्तव्य था। इस हेतु से इनकी पूजा अथवा उपासना का कोई भी अवकाश नहीं है। कभी कोई प्रकरण हो तो एक साधर्मी की तरह हम इन्हें जयजिनेन्द्र कर सकते हैं, पूजा नहीं।

भगवान के समवसरण में तो ये चारों ही प्रकार के देव पहुंचते हैं; किन्तु वहाँ इनसे साक्षात्कार होने पर भी कोई इनकी पूजा नहीं करता। इन देवों के द्वारा किन्हीं धर्मात्मा

की यदि रक्षा भी की जाती है तो वह उनकी की जाती है जो सच्चे देव-गुरु-धर्म के दृढ़ श्रद्धानी होते हैं, जैसे सीता, चेलना आदि।

यह भी कहा जाता है कि मंत्र आदि की शक्ति से यह वश में कर लिए जाते हैं। यह बात कदाचित सत्य भी हो तो भी परमार्थ प्रयोजन वाला कोई भी पुरुष मंत्रों के द्वारा इन्हें सिद्ध करने के मार्ग पर नहीं जाता; क्योंकि जैन धर्म में प्रतिपादित सभी मंत्रों में पंच परमेष्ठी एवं चौबीस तीर्थंकर गर्भित होते हैं। अतएव किसी को वश में करने के लिए उन्हें साधना उस मंत्र का भयंकर दुरुपयोग है। फिर यह भी आवश्यक नहीं कि साधने से वह मंत्र सध ही जाए क्योंकि एक मात्र पुण्य के उदय में ही वह सधता है; बल्कि यदि पुण्य का उदय हो तो मंत्र की सिद्धियां बिना प्रयोग के ही चरणों में लौटती हैं। धार्मिक पुरुष मंत्रों की सिद्धि के चक्र में नहीं पड़ते हैं; क्योंकि उनके पास ऐसी सन्दिग्ध प्रवृतियों के लिए कोई अवकाश नहीं होता। वे जानते हैं कि किसी भी मंत्र की सिद्धि में जितना श्रम एवं जितनी एकाग्रता की अपेक्षा होती है उतना श्रम एवं एकाग्रता सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को दिया जाय तो अपूर्व उपलब्धि होती है। महामुनियों को जो अनेक ऋद्धियां प्राप्त होती हैं वे उनकी प्रचुर भाव विशुद्धि एवं पूर्व पुण्य से स्वयमेव ही होती है। महामुनिराजों को अनेक ऋद्धियों का तो पता तक नहीं लगता और पता लग जाने

पर भी वे मुनि पद के विरुद्ध उनका उपयोग नहीं करते और वे कभी तीव्र धर्मानुराग वश मुनिपद के विरुद्ध उनका उपयोग कर भी लेते हैं तो मुनिपद से गिर जाते हैं।

लोक में प्रायः तीव्रकषायी लोग ही मंत्रादि की सिद्धि के चक्कर में पड़ते हैं और उनसे लौकिक प्रयोजन साधते हैं। यदि कभी विधिपूर्वक मंत्र की साधना न हो तो प्राण भी गंवा देते हैं। तीव्रकषायी लोगों को यदि कभी पुण्य उदय से अणुबम की तरह कोई सिद्धि हो भी जाय तो उसका उपयोग पाप के प्रयोजन साधने के लिए ही होता है। कभी-कभी तो ऐसा होता है कि मंत्र के द्वारा सिद्ध किये हुए देव से ही उनका बिगाड़ हो जाता है और वह उनको संकट में डाल देता है।

यदि यह कहा जाय कि किसी धार्मिक प्रयोजन से नहीं किन्तु किसी लौकिक प्रयोजन से इन देवों के साथ सम्पर्क बनाने में कोई आपत्ति नहीं होना चाहिए; किन्तु इनसे सम्पर्क बनाने की कोई रीति ही नहीं है, क्योंकि असंख्यात देवों में न तो हम व्यक्तिगतरूप में किसी को जानते हैं न उनका घर जानते हैं और उन तक पहुंचने का कोई साधन भी नहीं है जिससे उनकी पूजा किए बिना एक साधर्मी के रूप में उनकी मदद ले सकें।

यदि यह कहा जाय कि शासनदेव सम्यग्दृष्टि होते हैं अतएव इनकी पूजा करना चाहिए- तो यह सर्वथा

आगम-विरूद्ध तर्क है; क्योंकि सम्यग्दृष्टि तो चारों ही गतियों में होते हैं किन्तु चारित्र के बिना उनकी पूजा का कहीं भी विधान नहीं है। फिर पद्मावती, क्षेत्रपाल तो नियम से मिथ्यादृष्टि ही पैदा होते हैं और बाद में इनको सम्यग्दर्शन होने का कोई नियम नहीं है और चारित्र तो देव गति में होता ही नहीं है। अतएव किसी भी दृष्टि से लौकिक एवं धार्मिक प्रयोजन के अनुरोध से इन देवों की पूजा अथवा आराधना करना कुदेव पूजा ही है और वह गृहीत मिथ्यात्व का भयंकर पाप भी है।

यह प्रश्न भी हो सकता है कि भवनवासी एवं व्यन्तरादि देव हमारे शरीर में प्रवेश करके भी हमें परेशान करते हैं तब ऐसी स्थिति में क्या उनकी पूजा-मनौती की जा सकती है ?

सच्चाई तो यह है कि इन देवों से उत्पन्न परेशानी के कारण भी वास्तव में ये देव नहीं होते किन्तु हमारा असाता का उदय ही इनके संयोग का कारण होता है; क्योंकि जिनके पुण्य का उदय होता है उनको तो ये परेशान करते ही नहीं हैं, बल्कि उनकी रक्षा एवं सेवा करते हैं। चक्रवर्ती के एक-एक रत्न की एक-एक हजार देव रक्षा करते हैं, किन्तु चक्रवर्ती किसी देव को बुलाने नहीं जाता और चक्रवर्ती के पाप का उदय हो तो एक ही देव उसे यमलोक पहुंचा देता है। अतएव जैसे असाता के उदय से शरीर में व्याधियाँ आदि होती हैं, उसी तरह इन देवों का अनिष्ट संयोग होता है और

जब तक असाता के उदय से मुक्ति नहीं मिलती तब तक हजारों उपाय करने पर भी और इनकी पूजा-मनौतियां करने पर भी इनसे मुक्ति मिलती दिखाई नहीं देती। और प्रायः इन देवों में विश्वास रखने वाले लोग भी इनके द्वारा सताये जाते हैं। अतएव इनकी पूजा करना इनसे मुक्ति पाने का कोई उपाय नहीं है। बल्कि इनकी पूजा तो शुद्ध रूप में पाप ही है और उससे पाप का ही बंध होता है। इसलिए इनसे छुटकारा पाने के लिए भी भगवान जिनेन्द्र की पूजा ही पापक्षयकारिणी और पुण्यबन्धकारिणी होने से एकमात्र समाधान है।

भवनवासी एवं व्यंतर आदि देव प्रायः अशुभ लेश्या एवं अशुभ परिणाम वाले ही होते हैं। वे प्रायः कौतूहल प्रिय एवं निर्दय होते हैं। भले ही वे भगवान के समवसरण में जाते हों फिर भी अपने परिणाम-शुद्धि का प्रयत्न नहीं करते। जैसे मनुष्य गति में भी अनेक लोग ऐसे होते हैं जो भगवान की पूजा आदि अनुष्ठान करते हैं, फिर भी अपने गंदे स्वार्थ एवं मनोरंजन के लिए दूसरों की पीड़ा का विचार नहीं करते, यद्यपि भवनवासी एवं व्यंतर देवों के रहने के स्थान बड़े सुन्दर एवं सर्व सुविधा सम्पन्न होते हैं, दस प्रकार के भवनवासियों में असुर कुमारों को छोड़कर नौ प्रकार के भवनवासी तथा आठ प्रकार के व्यंतर देवों में राक्षसों को छोड़कर सात प्रकार के व्यंतर देव पहले नरक के तीन भागों

में से सबसे ऊपर के खर भाग में रहते हैं और असुर कुमार एवं राक्षस इसके नीचे के दूसरे पंक भाग में रहते हैं और इसके नीचे तीसरे हिस्से (अब्बहुल) में पहला नरक है। असुर कुमारों में अम्ब और अम्बरीष जाति के देव कौतूहलवश तीसरे नरक तक जाकर नारकियों को लड़ाते हैं, ऐसी ही प्रकृति व्यंतर देवों की होती है। व्यंतर देव मध्यलोक में भी वन, पर्वत, बाग, बगीचे, वापिका आदि स्थानों में रहते हैं और इसी प्रकार मध्यलोक में ऐसे ही स्थानों पर भवनवासी देव भी रहते हैं।

भगवान अरहन्त की तरह जिनवाणी समानरूप से वन्दनीय एवं पूजनीय है; क्योंकि भगवान जिनेन्द्र के निमित्त से मोक्षमार्ग के जिस प्रयोजन की सिद्धि होती है उसी मोक्षमार्ग की सिद्धि जिनवाणी से भी होती है। भगवान तीर्थंकर एवं सभी अरिहंतों की वाणी गणधरदेव रचित 12 अंग और उन्हीं की परम्परा में दिगम्बर आचार्यों, साधुओं एवं ज्ञानियों से रचित चार अनुयोगरूप जो भी वाणी अथवा साहित्य है वह सब जिनवाणी का ही पर्याय है। दिगम्बर धर्म की मर्यादा के बाहर रागियों एवं अल्पज्ञों की जो एकान्त से दूषित वाणी अथवा साहित्य है वह सबका सब मोक्षमार्ग का साधन न होने से प्रतीति करने योग्य नहीं है फलस्वरूप वंद्य एवं पूज्य भी नहीं है।

अरहन्त देव एवं जिनवाणी के सदृश भगवान अरहन्त द्वारा उपदिष्ट अंतर-बाह्य चारित्र का पालन करने वाले नग्न-दिगम्बर वीतराग मुनिराज भी समान रूप से वन्दन करने योग्य एवं पूजा करने योग्य हैं; क्योंकि राग अत्यन्त हीन हो जाने से दिगम्बर मुनिराज रत्नत्रय की प्रचुरता से सुशोभित होते हैं। संयम के लिए पिच्छी एवं शुद्धि के लिए कमण्डल हो, इसके अलावा मुनि के पास कोई बाह्य परिग्रह नहीं होता। दिगम्बर साधु सिंह की तरह वनवासी एवं वन विहारी होते हैं घोर उपसर्ग एवं परिषहों में भी अन्तर बाह्य चारित्र से विचलित नहीं होते। तीन कषाय के अभाव में अन्तरंग शुद्धिरूप आनन्द दशा तथा बाहर परम-विशुद्ध परिणाम पूर्वक अट्ठाईस मूलगुण एवं तेरह प्रकार के चारित्र मुनिराज का लक्षण होता है। मुनिराज का यह स्वरूप त्रैकालिक है; विदेहक्षेत्र अथवा भरतक्षेत्र आदि देश तथा चतुर्थकाल अथवा पंचमकाल आदि के कारण मुनिराज के स्वरूप में कभी अन्तर नहीं आता।

दिगम्बर मुनिराज के अतिरिक्त लोक में धर्म के नाम पर जितने भी वेष स्वीकार किये जाते हैं वह कोई भी वेष श्रद्धेय अथवा पूज्य नहीं होता; क्योंकि उससे कभी भी सत्य मोक्षमार्ग की सिद्धि नहीं होती।

किसी भी लौकिक अथवा लोकात्तर प्रयोजन के अनुरोध से ऐसा कोई भी वेष हमारे सम्मान का विषय नहीं

हो सकता। ऐसे वेष पर हमारी श्रद्धा अथवा सम्मान न होने का यह अर्थ नहीं है कि हम दिगम्बर साधुओं से राग और अन्य से द्वेष करते हों; परन्तु सच्चाई तो यह है कि साधु एक मात्र हमारे लोकोत्तर प्रयोजन की सिद्धि के निमित्त होते हैं और हमारा वह प्रयोजन जिनसे सिद्ध नहीं होता उनसे हमारा अद्वेषवृत्ति से किसी प्रकार का व्यवहार भी नहीं होता, वास्तव में जहाँ वीतराग तत्व का, कि जो हमारा प्राण है, स्पष्ट विरोध दिखायी देता हो उनसे हमारा व्यवहार संभव ही कैसे होगा।

यह भी कहा जाता है कि व्यवहार में लौकिक प्रयोजन के अनुरोध से जैसे हम लौकिकजनों को अभिवादन करते हैं उसी तरह उन्हें भी कर लिया जाये तो क्या आपत्ति है?

उत्तर यह है कि जैसे लोक व्यवहार में भी कोई पुरुष हमारे साथ कोई विश्वासघात अथवा कोई महा-निन्दनीय अनाचार करता है तो उससे हम सदा के लिए व्यवहार सम्बन्ध ही बन्द कर देते हैं, इसी तरह जो हमारे सर्वोत्कृष्ट जीवन तत्व वीतराग तत्वज्ञान के साथ खिलवाड़ करता हो और उसका खुला विरोध करता हो तो उसके साथ हमारा कौन सा व्यवहार शेष रह सकता है? शिष्टाचार के लिए भी यह बात स्वीकृति नहीं पाती; क्योंकि प्रणाम आदि के द्वारा असत्य को समर्थन देकर शिष्टाचार का निर्वाह करना स्वयं सत्य धर्म के प्रति ही विश्वासघात है।

लोक व्यवहार में लौकिक प्रयोजन से जो भी अभिवादन आदि का शिष्टाचार होता है उसमें शुद्ध रूप से लौकिक प्रयोजन ही होता है, धार्मिक प्रयोजन नहीं; और जिनके प्रति उस शिष्टाचार का निर्वाह होता है वे किसी धर्म के मानने वाले होने पर भी लौकिक पुरुष ही होते हैं, कोई वेषधारी धर्म प्रचारक नहीं। अतएव उनके साथ यथायोग्य व्यवहार निभाने में वेषधारियों की तरह सम्यक्त्व दूषित नहीं होता।

गुणस्थानों की अपेक्षा मुनिराज को छठा-सातवां गुणस्थान होता है। जिनमें उनका अन्तर्मुहूर्त में चढना-उतरना होता रहता है। इस प्रकार मुनिराज सदैव छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलते हुये प्रचुर आनन्द का संवेदन करते रहते हैं।

वीतराग मुनिराज अर्थात् संवर-निर्जरा तत्व किसी लौकिक प्रयोजन की सिद्धि के लिए नहीं, वरन् मुक्ति की सिद्धि के लिए होते हैं। शाश्वत सुख के निर्देशक साधु जैसे पवित्र एवं महान पुरुष के पास किसी भी लौकिक प्रयोजन को लेकर जाना, साधुत्व का ही घोर अपमान है। यह तो ठीक ऐसा ही कृत्य है, जैसे कोई मूर्ख किसी जौहरी की दुकान पर अफीम खरीदने जाता हो।

मुनिराज नग्न ही क्यों होते हैं?

क्योंकि मुनिराज का पद स्वाभाविक ही गृहस्थ की अपेक्षा उच्च एवं महान होता है, अतएव गृहस्थ को जितने

परिमाण में जिस प्रकार का राग रहता है निश्चित ही वह मुनिराज को नहीं होना चाहिए, गृहस्थ को जिस किसी परिमाण में पांच इन्द्रिय के विषयों का राग पाया जाता है, किन्तु उससे आगे की भूमिका तभी संभव हो सकती है, कि जब गृहस्थ को पाया जाने वाला राग मुनिराज को न हो। मुनिराज पांच इन्द्रिय के विषयों के संपूर्ण त्यागी होते हैं अतएव उनको वस्त्रादिक का सहचार असंभव है। ग्यारहवीं प्रतिमा जिसे ऐलक कहा जाता है, वह श्रावक का ही सर्वोत्कृष्ट पद है, वहाँ एक कोपीन मात्र वस्त्र रहता है; उसके बाद मुनि का क्रम आता है जहाँ मात्र नग्नता ही संभव हो सकती है।

मुनिराज तो पांच इन्द्रिय के विषयों के पूर्ण त्यागी होते हैं फिर नग्नता तो मात्र एक स्पर्शन इन्द्रिय के त्याग में ही चरितार्थ हो जाती है; क्योंकि स्पर्शन इन्द्रिय सर्वांग है, अतएव उसके विषय वस्त्र, सर्दी, गर्मी आदि का त्याग भी सर्वांग होता है। यदि मुनिराज के लिए वस्त्रादि विषयों में कुछ प्रतिशत स्वीकार कर लिया जाये, और कोई आगम इन्हें स्वीकार करने की आज्ञा दे दे, तो मुनिवृत्ति गृहस्थ की तरह पूरी पराधीन हो जायेगी, एवं गृहस्थ की अपेक्षा उनको राग काफी कम हुआ है और अंतरंग में प्रचुर वीतराग भाव पैदा हुआ है, यह प्रमाणित नहीं हो सकेगा, क्योंकि सर्दी और गर्मी से बचने के लिए जैसे गृहस्थ पहनता ओढ़ता है उसी प्रकार

वस्त्रों का रूप बदलकर मुनि भी पहनेंगे, और जिस तरह गृहस्थ अन्तर विकार को कपड़ों से ढकता है उसी तरह मुनि भी करेंगे, तब फिर गृहस्थ और मुनि की अन्तर-शुद्धि में कोई अन्तर नहीं रह जायेगा। अतएव प्रचुर मात्रा में राग और अन्तर-विकार टूट जाने के कारण मुनिराज को बाहर भी वस्त्रादि परिग्रह नहीं हो सकते।

यदि यह कहा जाये कि लज्जा के कारण वस्त्र स्वीकार करने में आपत्ति नहीं होना चाहिए; किन्तु यह तर्क पूरी तरह मिथ्या है, क्योंकि लज्जा स्वयं एक स्थूल विकार है जो मनुष्य को तन ढकने के लिए बाध्य करता है। मुनिराज सचमुच भीतर से बालक की तरह निर्विकार होते हैं, अतएव उन्हें वस्त्र की आवश्यकता रहती ही नहीं।

यह भी कहा जाता है कि देखने वालों के परिणाम बिगड़ जाते हैं अतएव मुनिराज को वस्त्र ग्रहण कर लेना चाहिए? किन्तु वह तर्क भी विवेकशून्य है; क्योंकि जो मुनिराज के निर्विकार रूप को नहीं समझते उन्हें मुनिराज को देखकर विकार तो हो सकता है, किन्तु इसके उत्तरदायी मुनिराज नहीं है; क्योंकि विकार तो सवस्त्र पुरुष एवं स्त्रियों को देखकर भी हो जाता है ऐसी स्थिति में विकार को दूर करने का क्या उपाय होगा? निश्चित ही जिनको विकार पैदा होता है उन्हें अपना विकार प्रक्षालित करना पड़ेगा। किन्तु जिनको देखकर हुआ, उनका नहीं। सच्चाई तो यह है कि

दिगंबर मुनिराज की मुद्रा को देखते ही देखने वाले तत्काल उनकी त्याग-तपस्या पर चकित होकर उनके चरणों में गिर पड़ते हैं, अतः दर्शक के चित्त में विकार उत्पन्न होने की कोई संभावना ही नहीं रह जाती।

यह तर्क भी प्रबलता से उठाया जाता है कि जब वस्त्र राग पैदा नहीं करते तो वस्त्रों के रहने में क्या आपत्ति है ?

जहाँ यह तथ्य शत-प्रतिशत सत्य है कि वस्त्र राग पैदा नहीं करते, वहीं यह तथ्य भी शत-प्रतिशत सत्य है कि वस्त्र के प्रति राग टूट जाने पर शरीर पर वस्त्र नहीं रहते। लोक में इस प्रकार के उदाहरण प्रचुर मात्रा में देखे जा सकते हैं। जैसे उपवास में भोजन के प्रति राग टूट जाने के कारण शरीर से स्वतः ही भोजन का सम्बन्ध नहीं देखा जाता।, यदि किसी के बल प्रयोग के बिना शरीर से भोजन का सम्बन्ध हो तो उपवास का पतन हो जाता है, क्योंकि शरीर से भोजन का सम्बन्ध भीतर भोजन के प्रति पैदा होने वाले राग का अपवाद रहित चिह्न है। यह बात लोक के किसी भी प्रकार के सभी उदाहरणों में चरितार्थ होती है।

दिगम्बर मुनिराज हर देश एवं हर काल में अट्ठाईस मूलगुण एवं तेरह प्रकार के चारित्ररूप व्यवहारचारित्र के धारक होते हैं।

मुनिराज के अट्ठाईस मूलगुणः-

पाँच महाव्रतः- अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह

पाँच समितिः- ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण, प्रतिष्ठापना/व्युत्सर्ग

पाँच इन्द्रिय जयः- स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण इन्द्रिय जय

छह आवश्यकः- सामायिक, स्तवन, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग

सात शेषगुणः- केशलोंच, एक बार भोजन, खड़े-खड़े भोजन, अदंत धौवन, स्नान का त्याग, भूमि पर सोना और यथाजात अर्थात् पूर्ण नग्न मुद्रा।

तेरह प्रकार का चारित्रः- 5 महाव्रत, 5 समिति, 3 गुप्ति (मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति)

मुनिराज नवधा भक्तिपूर्वक ही आहार ग्रहण करते हैं।

नवधा भक्तिः-

1 प्रतिगाहन (पड़गाहना)- हे महाराज (स्वामी)! नमोस्तु-नमोस्तु-नमोस्तु, आहार जल शुद्ध है, पधारिये! हे स्वामी! नमस्कार होऊ, यहाँ ठहरिये, आहार जल शुद्ध है, पधारिये।

2 ऊँचा आसन देना
3 पैर धोना (पादप्रक्षालन)
4 पूजा करना
5 प्रणाम करना
6 मनशुद्धि
7 वचनशुद्धि
8 कायशुद्धि
9. आहार-जल शुद्धि
भोजन शाला में प्रवेश कीजिये।

दातार के सात गुणः- 1. श्रद्धा 2. सन्तोष 3. भक्ति 4. ज्ञान 5. लोभ का न होना 6. निष्कपटता 7. ईर्ष्या रहितपना।

क्योंकि ये जिनेन्द्र भगवान के द्वारा उपदिष्ट मुनिराज के अट्ठाईस मूलगुण अर्थात् खास गुण हैं इसलिए मुनिराज को कभी भी इनमें से एक भी कम या अधिक नहीं होता। इसी प्रकार दिगम्बर मुनिराज परिषहों अथवा उपसर्गों को दूर करने के लिए किसी प्रकार का प्रयोग नहीं करते। किसी भी प्रकार के वाहन एवं पदत्राण का भी उपयोग नहीं करते। सर्दी से बचने के लिए कोई गर्म साधन जैसे हीटर, गर्मी से बचने के लिए कोई ठंडा साधन जैसे कूलर, पंखा आदि नहीं होते। यदि कोई अविवेकी गृहस्थ उनके लिए उसका उपयोग करता है तो वे उसको उपसर्ग समझते हैं। अपने लिए अथवा

समाज के लिए कोई वसतिका (जहाँ मुनिराज ठहरते हैं) अथवा धर्मशाला आदि अन्य कोई रचना आदि बनाने अथवा बनवाने, धर्म और समाज के नाम पर कोई भार स्वीकार नहीं करते। सचमुच तो उनको इस प्रकार का कोई विकल्प ही नहीं होता।

चार परिस्थितियाँ जिनको दूर नहीं किया जा सके, में मुनिराज समाधिमरण धारण करते हैं। 1. उपसर्ग 2.दुर्भिक्ष 3.बुढ़ापा 4. रोग

मुनिराज छियालीस दोष (16 उत्पादन, 16 उद्‌गम, 10 असन, 4 सामान्य दोष) और 14 मलदोष टालकर आहार करते हैं। अधःकर्मी एवं उद्दिष्ट आहार नहीं करते।

अधःकर्मीः- पाप पूर्वक उत्पन्न किया गया आहार अधःकर्मी आहार कहलाता है भले ही वह शुद्ध हो- जैसे मुनिराज के भोजन के पहले छोटा बच्चा बहुत रोता हो और उसे रोटी न दी जाय, भोजन के लिए कोई विशेष फल अथवा तरकारी मंगाने के लिए किसी को अतिश्रम दिया जाय, भोजन शाला की ओर कोई बिल्ली, चूहा आदि जानवर बार-बार आते हों तो भोजन होने तक उन्हें बाँध देना, घर में वृद्ध तथा रोगी पुरुष हो तो आहार होने तक उसे भोजन से वंचित रखना अथवा औषधि आदि देना भूल जाना इत्यादि।

उद्दिष्टः- जो आहार मुनिराज के लिए व्यक्तिगत रूप से बनाया गया हो उसका पता चल जाने पर भी उसे ग्रहण करना उद्दिष्ट आहार का दोष है।

यह दोनों प्रकार के दोष साधु की तपस्या का नाश करते हैं और मुनि के मन को अत्यन्त मलिन करते हैं।★

मुनिराज छियालीस दोष और बत्तीस अन्तराय टालकर भोजन करते हैं।

जो मुनिराज जिनागम में कहे गये अट्ठाईस मूलगुण एवं तेरह प्रकार के चारित्र का निर्दोष पालन करते हैं वे वन्दनीय एवं पूजनीय होते है। मुनिराज के लक्षणों की परिपूर्णता होने पर एवं अन्य किसी प्रकार की कोई कमी नहीं दिखायी देने पर भी जो उन्हें वन्दन नहीं करता वह महापापी है। उक्त सभी गुणों की पूर्णता होने पर भी जो पुरुष यह छल करता है एवं सन्देह करता है कि मुनिराज को सम्यग्दर्शन है या नहीं इसके बिना कैसे नमस्कार किया जाय तो वह मुनित्व से ही इन्कार करने वाला पापी मिथ्या दृष्टि है; क्योंकि यह आवश्यक नहीं है कि अपने स्थूल-ज्ञान से कोई किसी के सम्यग्दर्शन का निश्चित पता कर सके। अतः सम्यग्दर्शन जैसे अमूर्त अतीन्द्रिय तत्व का पता किये बिना

★ इन दोषों व अन्तराय आदि का विस्तृत स्वरूप मुनिधर्म के प्ररूपक आचार शास्त्रों से जानना चाहिये।

मुनिराज को नमस्कार नहीं किया जायेगा तो फिर लोक के सभी साधु वन्दनीय नहीं रह सकेंगे। इसलिए मुनिराज में जहाँ जिनोपदिष्ट व्यवहार धर्म की परिपूर्णता पायी जाये तो वे अवश्य ही वन्दन के योग्य होते हैं; क्योंकि व्यवहारी की गति व्यवहार तक ही होती है। कोई कारण न दिखायी देने पर भी किसी के चरित्र के सम्बन्ध में सन्देह करना चारित्र का बहुत बड़ा अपमान है। जिसका श्रद्धा तत्व अत्यन्त दुर्बल हो ऐसा सन्देहशील पुरुष लौकिक अथवा लोकोत्तर किसी भी कार्य में सफल नहीं हो सकता।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार में दिगंबर मुनि का स्वरूप इस प्रकार कहा हैः-

"जो विषयों की आशा से रहित हो एवं आरम्भ-परिग्रह से रहित हो, ज्ञान-ध्यान-तप में लीन रहने वाला हो, वही तपस्वी (साधु) प्रशंसनीय है।"

(इस प्रकार पूज्य-पद रूप देव-शास्त्र-गुरु के सामान्य स्वरूप के पश्चात् पूजा के सम्यक्-स्वरूप पर विचार अपेक्षित है।)

पूजा के 2 भेदः- निश्चयपूजा, व्यवहारपूजा

निश्चय पूजाः- जो परमात्मा है वही मैं हूँ और जो स्वानुभवगम्य मैं हूँ वही परमात्मा है; इसलिए मैं ही मेरे द्वारा उपासना किया जाने योग्य हूँ; दूसरा अन्य कोई नहीं। (समाधि शतक)

पाँचों परमेष्ठी आत्मा में ही स्थित हैं इसलिए वही मुझे इष्ट हैं।

विकल्परूप मन (श्रुतज्ञान) (विकल्प छोडकर) भगवान आत्मा राम से मिल गया और परमेश्वर (भगवान आत्मा) भी मन से मिल गया तो दोनों ही को समरस होने पर अब मैं किसकी पूजा करूँ! (परमात्मप्रकाश)

इन तीन उद्धरणों से स्पष्ट है कि निश्चय पूजा में पूज्य और पूजक के भेद का अभाव हो जाता है। वहाँ श्रुतज्ञान का उपयोग एक मात्र निजात्मा में एकाग्र होकर निर्विकल्प हो जाता है और उसे आत्मा के अनन्त गुणों का विलक्षण रसास्वादन होता है इसी को निश्चय पूजा कहते हैं।

व्यवहार पूजाः- सच्चे देव-शास्त्र-गुरु अथवा पंचपरमेष्ठी की अष्ट द्रव्यों के माध्यम से जो स्तुति की जाती है उसे व्यवहार पूजा कहते हैं।

वास्तविकता तो यह है कि निश्चय पूजा पूर्वक ही व्यवहार पूजा होती है। जिसे आत्मस्वरूप के अनुभव पूर्वक सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान नहीं हुआ वह व्यवहार पूजा का प्रयोजन भी नहीं समझता है और न वह व्यवहार के अर्थ से परिचित ही होता है; इसलिए अज्ञानता में एकान्त भगवान की पूजा कर लेता है; किन्तु सचमुच तो भगवान की पूजा भगवान के लिए नहीं की जाती वरन् भगवान के अनन्त चतुष्टयमय

पवित्र स्वरूप से अपने स्वरूप को देखने एवं भगवान की पद्धति से अपने दोषों के परिहार के लिए की जाती है। यदि यह प्रयोजन सिद्ध होता है तो उसे व्यवहार पूजा कह सकते हैं; क्योंकि व्यवहार ही उसे कहते हैं जो निश्चय का साधक हो। सीधा भगवान का गुणगान कर लेने से कुछ पुण्यबंध तो हो सकता है पर अपने को कुछ नहीं मिल पाता। इसलिए पूजा में इस अनैकान्तिक ज्ञान की अनिवार्य आवश्यकता है कि भगवान की भक्ति के साथ भगवान से मुक्ति की कला सीखकर स्वयं भगवान बनना है।

उपासक का मनोविज्ञान ठीक एक विद्यार्थी जैसा होता है। विद्यार्थी अपने आचार्य का विनय करता है, किन्तु सिर्फ विनय के लिए नहीं, विद्या के लिए करता है। जो विद्यार्थी विद्या चाहता है उसको अपने प्रोफेसर के प्रति बिना यत्न के ही विनय होता है। यदि चित्त में विनय ही नहीं हो तो अभिमान की शिला में विद्या का प्रवेश ही नहीं होगा। अतएव यद्यपि विनय के बिना विद्या की उपलब्धि नहीं होती; किन्तु विनय ही विद्या नहीं है। विनय के साथ विद्या के लिए बुद्धि का अलग प्रयत्न करना होता है।

इस उदाहरण से स्पष्ट है कि व्यवहार उस भूमिका को कहते हैं जहाँ पहुँचकर निश्चय अर्थात् लक्ष्य तक पहुँचने का प्रयत्न अलग से किया जा सके; किन्तु मात्र उस भूमिका तक पहुँच जाना ही लक्ष्य की सिद्धि नहीं है। जैसे यह कहा जाता

है कि ध्यान एकान्त में होता है, किन्तु इस बात को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया जाये तो एकान्तवास करने वाले सभी को ध्यान की सिद्धि हो जायेगी; किन्तु ऐसा नहीं होता। एकान्त स्थान में जाकर उस एकान्त स्थान से मन को हटाकर भीतर शुद्धात्मा के साथ युक्त करे तो ध्यान होता है। इसलिए इस तथ्य को अपने ज्ञान में इस तरह व्यवस्थित करना चाहिए कि जहाँ-जहाँ आत्मध्यान होता है वहाँ एकान्त होता है- सचमुच एकान्त स्थान ध्यान का वास्तविक साधन नहीं वरन् उसका होना आत्मा के परिणामों की कमजोरियों को सिद्ध करता है। पुरुषार्थ की दुर्बलता से आत्मा के परिणाम इतने कमजोर हों कि कोलाहल में चित्त स्थिर न हो सके, तब चित्त की स्थिरता में लिए एकान्त की आवश्यकता का अनुभव होता है; किन्तु एकान्त स्थान होने पर भी ध्यान के शुद्ध परिणाम को एकान्त स्थान से कोई सहयोग नहीं मिलता। यदि एकान्त स्थान से थोड़ा भी सहयोग स्वीकार कर लिया जाये तो किसी न किसी अंश में सबको ध्यान होगा, किन्तु कमजोर चित्त एकान्त स्थान में जाकर अपने को शुद्धात्मा के प्रति एकाग्र करे तो ध्यान हो सकता है। ध्यान में एकान्त स्थान की ऐसी भूमिका को स्वीकार करके यह कहा जाता है कि ध्यान एकान्त में होता है, अथवा एकान्त के बिना ध्यान नहीं होता- इस प्रकार एकान्त स्थान ध्यान की सिद्धि का साधन न होने पर भी

ध्यान के प्रति उसकी भूमिका का विचार करके उसे ध्यान का साधन जानना व्यवहारनय कहलाता है। और व्यवहारनय के विषय उस एकान्त स्थान को व्यवहार कहा जाता है। सचमुच तो एकान्त स्थान अचेतन तत्व है उसका नाम व्यवहार नहीं है; किन्तु ध्यान के समय वह अनिवार्यरूप से होता है और उसके अभाव में ध्यान नहीं होता इसलिए उसे ध्यान का साधन कहा जाता है, किन्तु सचमुच तो चित्त की एकाग्रता ही ध्यान का वास्तविक साधन है। इस प्रकार एकान्त स्थान साधन न होने पर भी उसे साधन कहना या जानना व्यवहारनय कहलाता है।

एकान्त स्थान को साधन कहता हुआ साधक यह अच्छी तरह जानता है कि स्थान भावों को पवित्र करने अथवा एकाग्र करने का बिल्कुल कारण नहीं होता वरन् आत्मा का पुरुषार्थ ही वास्तविक कारण अथवा साधन होता है। अतएव वह उसी को सच्चा साधन जानता है, ज्ञान की इस पर्याय का नाम निश्चयनय कहलाता है। इस प्रकार ज्ञानी साधक के ज्ञान में एक ही साथ निश्चय-व्यवहार की सुन्दर व्यवस्था रहा करती है।

"एकान्त के बिना ध्यान की सिद्धि नहीं होती" आगम के इस वचन को ज्यों का त्यों मान लेने वाले अज्ञानी वस्तु-तत्व (आत्मा का स्वरूप और उसके अवलंबन से होने वाला ध्यान) को समझे बिना ध्यान के लिए एकान्त स्थान

में चले जाते हैं; किन्तु उस एकान्त स्थान में भी विकल्प-चक्र के कारण निरंतर परेशान रहते हैं; क्योंकि एकान्त स्थान ध्यान का साधन नहीं है वरन् शुद्धात्मा के प्रति चित्त की एकाग्रता ही ध्यान का वास्तविक साधन है।

निश्चय-व्यवहार के सम्बन्ध में जैन दर्शन का यह मन्तव्य सदैव एवं सर्वत्र ही स्मरणीय है। जैन दर्शन व्यवहार अर्थात् व्यवहार धर्म उन परिस्थितियों को कहता है जिनमें मोक्षमार्ग साधा जाता है, वे परिस्थितियाँ संयोगों के रूप में हों अथवा आत्मा के शुभ भावों के रूप में हों, उनके अभाव में मुक्ति की साधना नहीं होती; किन्तु उनके सद्भाव मात्र से भी मोक्षमार्ग अथवा मुक्ति की साधना नहीं होती। जैसे पाप भावों के समय इन्द्रियों के विषयों का ही स्मरण होता है, उस समय यदि जीव को तत्वज्ञान या धर्म सुनाया जाय तो वह नहीं सुन सकता। पुण्य भाव देव पूजा, गुरु, उपासना, स्वाध्याय आदि रूप होते हैं। अतएव उस मन्द कषाय अर्थात् शुभ उपयोग के समय जीव को तत्व का उपदेश मिले और वह अपने पुरुषार्थ से उसके प्रति एकाग्र होकर उसे सुनना चाहे और धारण करना चाहे तो कर सकता है; किन्तु शुभोपयोग में रहते हुए भी यदि वह तत्वज्ञान के प्रति रुचिवंत न हो तो वह तात्विक उपदेश सुनेगा ही नहीं वरन् शुभोपयोग में ही उसका काल व्यतीत हो जायेगा।

जैन दर्शन में शुभ भाव अर्थात् पुण्य भाव की उपयोगिता मात्र पुण्य भाव करके पुण्य बांधने के लिए नहीं है; वरन् उस शुभ भाव की भावभूमि में ही आत्मा और अनात्मा का स्वरूप समझा जा सकता है। इसलिए सचमुच यह शुभ भाव आत्मा का स्वरूप समझने के लिए आता है इसके अतिरिक्त उसके आने का कोई लाभ अथवा उपयोगिता नहीं है। यदि उस शुभ भाव का उपयोग तत्व समझने में न किया जाये तो वह शुभ भाव तो थोड़े समय चलकर समाप्त हो जाता है और उसके फल में जीव स्वर्ग भी चला जावे तो वहाँ प्राप्त विषयों में लिप्त होकर पापार्जन करके दुर्गति में चला जाता है। **शुभ भाव की इससे अधिक दुर्बलता और क्या हो सकती है कि उसके फल के समय वह पुनः शुभ भाव उत्पन्न करने में भी असमर्थ रहता है।**

इसीलिए जैन दर्शन मोक्षमार्ग की रचना के समय पुण्य भावों का अस्तित्व अनिवार्य रूप में स्वीकार करते हुए भी उनको हेय कोटि में रखता है और उत्पन्न होने वाले सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निश्चय रत्नत्रय को उपादेय कोटि में।

हेय तत्व उसको नहीं कहते जिसको हेय जानते ही छोड़ दिया जाये। यह ज्ञान का बहुत बड़ा दोष है। हेय तत्व छोड़ने योग्य तो होता ही है पर तत्काल छोड़ने योग्य नहीं। हेय का अर्थ द्वेष करने योग्य भी नहीं होता; सिर्फ ज्ञान में निश्चित रूप में यह जाना जाता है कि हेय तत्व अर्थात् पुण्य-पाप

भाव वर्तमान में मेरी पर्याय में होते हुए भी आत्मा के स्वभाव के विपरीत हैं; अतएव सचमुच मेरे कर्त्तव्य नहीं हैं। यह एक रोगी जैसा मनोविज्ञान है। रोग तीव्र हो अथवा मंद, रोगी उसके हर अंश को दुख का कारण जानता है; अतएव सदैव ही उसका चित्त रोग से टूटा हुआ रहता है। वह यह भी जानता है कि रोग मुझे ही है, फिर भी जब जब वह अपनी वास्तविक सत्ता का अनुभव करता है तो अपने ज्ञान में रोग को अलग रखकर शेष बची हुई सत्ता को ही अपनी पूरी और वास्तविक सत्ता मानता है। इस तरह उसके ज्ञान और श्रद्धा सदैव ही वास्तविक सत्ता के प्रति ममत्वशील और रोग के प्रति निर्ममत्व रहते हैं। आगम की भाषा में इसी को उपादेय और हेय कहा जाता है। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि जिन तत्वों को अपनी सत्ता में विपरीत जाना जाता है उन्हें समाप्त करने का पुरुषार्थ निरन्तर ही चलता है। जैसे रोगी औषधि लेता है तो पहले रोग के तीव्र अंश समाप्त होते हैं पश्चात् मंद अंश; किन्तु दोनों को समाप्त करने लायक तो वह चिकित्सा के प्रारंभ में ही जान लेता है।

इसी प्रकार जैन श्रावक मुक्ति के लिए षट्कर्मों में प्रवर्तमान होता है; किन्तु उनको अत्यन्त भक्ति और अनुराग पूर्वक करते हुए भी उस राग को ज्ञान और श्रद्धा में हेय कोटि में रखता है और शुद्धात्मा के अवलम्बन से उत्पन्न होने वाले सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को और इनके अवलम्बनभूत शुद्धात्मा को उपादेय कोटि में।

षटकर्मो में श्रावक को जो शुभराग प्रवर्तित होता है उसको वह पाप भाव की अपेक्षा अच्छा भी जानता है। जैसे रोगी तीव्र रोग की अपेक्षा मन्द रोग को अच्छा जानता है; फिर भी श्रावक को राग की तीव्र और मन्द अर्थात् पाप और पुण्यरूप दोनों दशाओं के प्रति निरन्तर हेयत्व और रत्नत्रयरूप शुद्ध भावों के प्रति निरन्तर उपादेयत्व प्रवर्तमान रहता है। सही स्थिति तो यह है कि रत्नत्रय के अवलम्बनभूत शुद्धात्मा की उपादेयता अर्थात् शुद्धात्मा का ममत्व जो प्रति समय प्रवृत्त होता है उसमें रागादि भाव एवं अन्य सभी पदार्थों का हेयत्व गर्भित रहता है। शुद्धात्मा के सर्वोपरि महत्व के कारण निरन्तर रत्नत्रय की प्रवृत्ति और उसकी वृद्धि के प्रति श्रावक सजग रहता है। *अतः हेय-भाव ज्ञान में पड़े रहने पर भी न तो उनके प्रति द्वेष होता है और न ज्ञान में वजन पूर्वक उनका विचार होता है किन्तु वे उपेक्षित से ज्ञान में पड़े रहते हैं।*

व्यवहार पूजा के भेद

व्यवहार पूजा के भी दो भेद हैं भाव पूजा एवं द्रव्य पूजा।

भाव पूजाः- पूज्य के विविध गुणों का अवलम्बन लेकर अत्यन्त भक्ति पूर्वक जो गुणानुवाद होता है उसे भाव पूजा कहते हैं।

द्रव्य पूजाः- जिन द्रव्यों के माध्यम से भाव पूजा सम्पन्न होती है उसे द्रव्य पूजा कहते हैं।

पूजा के 5 अंग होते है? 1.आह्वानन् 2.स्थापन 3.सन्निधिकरण 4.पूजन 5.विसर्जन।

पूजा के 4 अंग आह्वानन्, स्थापन, सन्निधिकरण और विसर्जन की विधि जो एक ठोणे में 3-3 चावल की स्थापना करके सम्पन्न की जाती है उस विधि का कोई औचित्य नहीं है; क्योंकि आह्वानन् आदि के द्वारा जिन पूज्य का आह्वान किया जाता है उनके सम्बन्ध में ऐसी कल्पना होनी चाहिए कि वे हमारे सामने हमारे अत्यन्त निकट ही बैठे हैं। ठोणे में चावलों को स्थापना से यह सुन्दर कल्पना धूमिल हो जाती है। वैसे ही वेदी में यदि एक ही प्रतिमा हो तो अनंत चतुष्टय के कारण एक ही प्रतिमा सभी देवों का प्रतिनिधित्व करती है; अतएव गुण पूजा की दृष्टि से एक प्रतिमा में सबकी कल्पना हो जाती है अतः आह्वानन्, विसर्जन आदि में उस क्रिया की सम्पन्नता के रूप में थाली में पुष्पांजलि क्षेपण करना काफी पर्याप्त होता है।

पूजा में पूजक के मन में पूज्य के प्रति ऐसी मधुर कल्पना होती है कि जैसे वे मेरे सामने ही बैठे हैं और मैं उनकी पूजा कर रहा हूँ। इस कल्पना को पूजक आह्वानन् की विधि के द्वारा साकार करता है। तदाकार स्थापना के रूप में जिन प्रतिमा विद्यमान होती है, उस एक तदाकार स्थापना में सभी पूज्यों की तदाकार कल्पना की जा सकती है। उस तदाकार स्थापना के विद्यमान होने पर भी जिन मन्दिर में

चावलों के रूप में अतदाकार स्थापना करना सुसंगत एवं विवेकपूर्ण नहीं कहा जा सकता।

1. **आह्वानन्** - अति सत्कार से "आइये आइये" इस प्रकार के वचनों के द्वारा पूज्य को बुलाने की कल्पना करना।

2. **स्थापन** - बुलाये हुए पूज्य के प्रति "बैठिये बैठिये" इन वचनों के द्वारा पूज्य को सम्मान पूर्वक बिठाने की कल्पना करना।

3. **सन्निधिकरण** - भक्तिपूर्वक बिठाये हुए पूज्य के प्रति अति भक्ति वश "मेरे अत्यन्त निकट बैठिये।" इन वचनों के द्वारा निकट बिठाने की कल्पना करना।

4. **पूजन** - अर्ध्य सहित अष्ट द्रव्य समर्पण एवं जयमाला के रूप में पूज्य के गुणानुवाद को पूजन करते हैं।

5. **विसर्जन** - पूजा की समाप्ति पर पूजन के समय सम्भव भाव एवं द्रव्य सम्बन्धी त्रुटियों के लिए अत्यन्त नम्रीभूत हृदय से क्षमा याचना करते हुए पूज्य के प्रति अतिशय भक्ति प्रगट करना और बार-बार पूजा के अति दुर्लभ अवसर की पूज्य के समक्ष कामना करना विसर्जन कहलाता है।

पूजा वास्तव में भाव प्रधान ही होती है। आठ द्रव्य एवं वचन तथा काय की क्रियाऐं भावों के आलंबन मात्र होते हैं।

पंच परमेष्ठी जेसे महान पवित्र और उत्कृष्ट पुरुषों के प्रति गृहस्थ को भक्ति के भाव समुद्र के ज्वार की तरह उमड़ते हैं। वैसे जिनदर्शन भी भक्ति का ही एक अंग होता है; किन्तु जिसको भक्ति की तरंगे उछल रही हैं ऐसे गृहस्थ श्रावक का मन मात्र दर्शन से भरता नहीं है, इसलिए अपनी भक्ति की प्यास की तृप्ति के लिए वह पूजा के रूप में एक महान आयोजन करता है। भगवान अरहन्त परमात्मा जैसे पूज्य के स्वरूप को और उनके भीतर परिणमित विलक्षण एवं असीम आनंद को गृहस्थ जानता है, साथ ही वह पूजा के उस महान फल के प्रति भी आश्वस्त होता है जहाँ उपासक निश्चित रूप में अरहंत और सिद्ध जैसा ही उपास्य बन जाता है। इसलिए उसके हृदय में पूजा के प्रति महान उत्साह होता है एवं भक्ति का महान विशुद्ध भाव उसके हृदय में उल्लसित होता है। भक्ति के इस परिणाम की विशुद्धता असाधारण होती है इसके प्रभाव से पूर्वबद्ध कठोरतम पाप प्रकृतियां खंड-खंड हो जाती हैं।

उद्धरण- जिनेन्द्रों के दर्शन (पूजा) से पाप घात के सौ टुकड़े हो जाते हैं, जिस प्रकार वज्र के आघात से पर्वत के सौ टुकड़े हो जाते हैं।

जिनबिंब के दर्शन से निधत्ति और निकांचित रूप भी मिथ्यात्वादि कर्म कलाप का क्षय देखा जाता है। (धवल)

जो भव्य प्राणी भक्ति से जिन भगवान का पूजन दर्शन और स्तुति करते हैं वे तीनों लोक में स्वयं ही दर्शन, पूजा और स्तुति के योग्य हो जाते हैं। (पद्मनंदि पंच विंशतिका)

राजग्रही नगरी में भक्ति में प्रमुदित मेंढक के द्वारा एक पुष्प से भगवान की पूजा का अतिशय-विशुद्ध भाव जिनपूजा की महा महिमा को प्रसिद्ध करता है। (रत्नकरण्डश्रावकाचार)

भगवान महावीर की पूजा के लिए लिया गया पुष्प समर्पित न करने और मार्ग में ही राजा श्रेणिक के हाथी के पैर से मर जाने पर भी पूजा के परम-विशुद्ध भावमात्र से मेंढक पहले स्वर्ग में देव हुआ।

भगवान जिनेन्द्र की तरह जिनवाणी एवं निर्ग्रन्थ मुनिराज भी समान रूप से पूज्य होते हैं। "जैसे निर्मल जल अपवित्र रुधिर को प्रक्षालित कर देता है उसी प्रकार तपोधन निर्ग्रन्थ मुनिराज की पूजा पापों का क्षय कर देती है।" (रत्नकरण्ड श्रावकाचार)

मुक्ति के साक्षात् निमित्त भगवान जिनेन्द्र, जिनवाणी एवं निर्ग्रंथ मुनिराज के प्रति गृहस्थश्रावक के हृदय में उत्कृष्ट भक्ति उछलती है जिसके फलस्वरूप श्रावक को अतिशय पुण्य बन्ध होता है और चक्रवर्ती एवं इन्द्रादि का वैभव उसके चरणों में लोटता है; किन्तु श्रावक को पुण्य के उस फल की कोई अभिलाषा नहीं होती। सचमुच तो विवेकी श्रावक यह

समझता है कि पूजा का वास्तविक फल पूजा के विशुद्ध परिणामों के निमित्त से प्राप्त सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही मुझे इष्ट है और वह पूजा के समय ही प्राप्त हो जाता है। पूजा के परिणाम से जो पुण्य बंधता है कालान्तर में उसका उदय होता है और उससे निश्चित रूप में जड़ वैभव ही मिलता है; किन्तु विवेकी श्रावक यह जानता है कि वह वैभव छूने लायक भी नहीं है। अतएव इसके लिए उसका मिलना ही व्यर्थ है। यदि वह उस पुण्यफल का स्पर्श अर्थात् भोग करता है तो पाप बांधता है और दुर्गति होती है। अतएव पुण्य परिणाम का जैन दर्शन में वास्तविक उपयोग यही अपेक्षित है कि उस अवसर में निश्चय मोक्षमार्ग की साधना कर ली जाये। जो अज्ञानी इस रहस्य को नहीं समझते वे एकान्त भगवान की पूजा एवं भक्ति करते हैं; किन्तु उन्हें भगवान के वास्तविक उपयोग का अर्थात् मुक्ति के स्वरूप का परिचय न होने से उनकी सम्पूर्ण पूजा एवं भक्ति लौकिक अभिलाषाओं सहित होती है। अतएव बांधे हुए हल्के से पुण्य को पाकर वे उसमें लिप्त हो जाते हैं और उत्तरोत्तर पाप की परम्परा बढ़ाते हैं।

वास्तव में भक्ति का सच्चा भाव ज्ञानी को ही होता है क्योंकि वह भगवान की भक्ति से मुक्ति जैसे महान तत्व को साधना जानता है। अज्ञानी की भक्ति निरभिलाष नहीं होने से सच्ची नहीं होती। कभी-कभी ऐसा भी देखने में आता है

कि ज्ञानी की अपेक्षा अज्ञानी को भक्ति अधिक होती है; यद्यपि ऐसा होता तो है किन्तु अज्ञानी को भक्ति का जो अतिरेक होता है उसके पीछे लौकिक कुछ पाने की भावना काम करती रहती है। अतएव एक स्वार्थी व्यक्ति की तरह उसकी भक्ति भले ही अधिक दिखायी दे, पर वह विशुद्ध, निर्मल एवं सच्ची नहीं होती। और ज्ञानी की तरह उस भक्ति से सातिशय पुण्यबंध नही होता; मात्र पापानुबन्धी पुण्य का कुछ संचय हो जाता है जो बाद में समाप्त हो जाता है और उसकी परंपरा नहीं चल पाती।

जैन दर्शन में सर्वत्र भक्ति का यही स्वरूप स्वीकार किया गया है। जैनेतर दर्शनों की तरह यहाँ भगवान को ही सब कुछ नहीं करना है, वरन् सब कुछ भक्त को ही करना होता है। वहाँ उन दर्शनों में भक्त भगवान से अपने पापों और दुःखों की पुकार करके सब कुछ उन्हीं पर छोड़कर आश्वस्त हो जाता है। वह यह प्रतीति करके निश्चिंत हो जाता है कि मैंने भगवान को सब कुछ निवेदन कर ही दिया है और उन्होंने सुन भी लिया है अतएव मुझे पापों एवं दुखों से मुक्त करने का सम्पूर्ण भार उन्हीं पर है। किन्तु वहाँ भक्त इस बात को भूल जाता है कि उसके द्वारा पहले किये गये पाप और वर्तमान में उनके फल में जो दुख हो रहा है, तो मेरे इस प्रकरण के बीच में भगवान आयेंगे ही कैसे ? और आकर भी क्या करेंगे ? यदि पाप भगवान ने ही कराये हों तब तो भक्त

को कुछ सोचना ही शेष नहीं रहता। किन्तु पाप तो भगवान से पूछे बिना हँस-हँस करके स्वयं ही करता है; इसलिए नीति के अनुसार उसका फल भी इसी को शांति से भोगना चाहिए और वर्तमान में पाप भावों से विरक्त होना चाहिए। यदि भगवान इसको इस के पापों के फल से बचाते हैं तो इसने पहले अपने पाप भावों से जिन जीवों को सताया था वे भगवान से यह प्रार्थना करेंगे कि इसे न बचाया जाये, क्योंकि उसने उनको बहुत कष्ट दिया था और ऐसी उलझन को भगवान भी नहीं सुलझा पायेंगे।

अतएव भगवान का बुद्धिसंगत स्वरूप यही हो कि वह स्वयं पूर्ण निर्विकार हो और सदा से निर्विकार नहीं, वरन् पहले सामान्य जीवों की तरह विकारी एवं दुःखी रहा हो, और पूर्व कर्मो के फल को शांति से सहता हुआ अपने पुरुषार्थपूर्वक विकार को कम करता जाये और अन्त में सम्पूर्ण विकार का क्षय करके पवित्रता का आदर्श हो जाए। भगवान के ऐसे स्वरूप को पहिचानने वाला भक्त सचमुच अपने विकार का पूरा उत्तरदायी स्वयं ही होता है। वह भगवान से कुछ नही चाहता; किन्तु भगवान की सर्वोत्कृष्टता और अपनी पामरता के कारण उसे जो भक्ति का भाव उछलता है उस अवसर में वह अपने ज्ञान को सजग करके भगवान से मुक्ति की विधि सीख लेता है और उस विधि को अपने जीवन में परिणति देता हुआ स्वयं भगवान बन जाता है।

जैन दर्शन में सर्वत्र भक्ति का यही स्वरूप स्वीकार किया गया है जो सचमुच पूर्ण मनोवैज्ञानिक, पूर्ण बौद्धिक एवं हृदय-ग्राही प्रतीत होता है।

जैन दर्शन का यह मानना है कि कार्य की सिद्धि पूजा, प्रशंसा अथवा प्रार्थनाओं से नहीं होती, वरन् कार्य के अनुरूप पुरुषार्थ से होती है। यद्यपि कार्य की विधि के निर्देशक के प्रति सम्मान का भाव तो होता है किन्तु मात्र सम्मान ही कार्य की सिद्धि का साधन नहीं है। जहाँ पूज्य के प्रति पूजा के रूप में मात्र सम्मान ही प्रदर्शित किया जाए और पूज्य ने जिस विधि से मुक्ति रूप कार्य की सिद्धि की उस विधि को पुरुषार्थ प्रदान न किया जाए, ऐसी भक्ति एकांतिक होने से मुक्ति की साधक नहीं होती। पूज्य के प्रति भक्ति का भाव विशुद्धि के समय जो शुद्धात्मा के लक्ष्य से अन्तर पुरुषार्थ पूर्वक रत्नत्रय को प्रगट करता है, वहाँ भक्ति के साथ ज्ञान का सहचार होने से, वह भक्ति अनेकान्तिक कहलाती है और तब भक्ति की उस भावभूमि को व्यवहार अर्थात् मुक्ति का व्यवहार साधन और उस समय उत्पन्न रत्नत्रय रूप अन्तरंग शुद्धि मुक्ति का निश्चय साधन कहलाती है। इस प्रकार साधक श्रावक के जीवन में निश्चय व्यवहार सहज ही व्यवस्थित चलते रहते हैं।

प्रश्न- भाव पूजा के प्रकरण में एक प्रश्न यह भी हो सकता है कि जब पूजा के पुण्य परिणाम से भोग मिलते ही हैं, तो उनकी अभिलाषा करने में क्या आपत्ति है।

उत्तर- यद्यपि यह बात संदेह रहित है कि पूजा के पुण्य परिणाम से भोग मिलते हैं किन्तु भोग का भाव पुण्य परिणाम ही नहीं है वरन् वह तो पाप भाव है- अतएव उसके फल में पुण्य की सामग्री नहीं मिलती। पुण्य की सामग्री और भोग तो पुण्य भाव से मिलते हैं और जो पूजा अभिलाषाओं को लेकर की जाती है- तो वहाँ पूजक और भगवान के बीच में अभिलाषायें खड़ी हो जाती हैं। अतएव वह पूजा भगवान तक पहुंचती ही नहीं है। अतः वहाँ पुण्य भाव का ही अभाव होने से भोग नहीं मिलते हैं वरन् पाप की प्रतिकूल सामग्री मिलती है और जब पूजा के विशुद्ध परिणाम से भोग की इच्छा किये बिना ही भोग अवश्यमेव मिलते हैं तब इच्छा का अतिरिक्त परिश्रम निरी मूर्खता ही कहा जायेगा। तथा जिस देव को अपना सब कुछ लुटाकर हमने अपने हृदय-मंदिर में बिठाया है, उसी से याचना करना, यह अर्चना की कैसी रीति है?

"अरंहतादि के उद्देश्य से गंध पुष्प, धूप, अक्षत आदि समर्पण करना तथा खड़े होना, तीन प्रदक्षिणा देना, नमस्कार करना वचनों से अरहंतादि के गुणों का स्तवन करना द्रव्य पूजा है।" (भगवती आराधना)

वास्तव में तो अरहन्त आदि के सम्मान में उत्पन्न आत्मा की प्रचुर भाव-विशुद्धि ही पूजा है, किन्तु अष्टद्रव्य एवं वचनकाय आदि की जिन क्रियाओं के निमित्त से भाव

पूजा सम्पन्न होती है उनको भी पूजा कहा जाता है। सचमुच तो आठ द्रव्यों के चढ़ाने की क्रिया तथा साथ में होने वाली वचन काय की क्रिया स्वयं पुण्य नहीं है, क्योंकि वह शुद्ध रूप में पुद्‌गल की क्रिया है; अतः पुण्य-बंध की कारण भी नहीं, चूँकि पूजा एक समय साध्य विधान है, और गृहस्थ श्रावक का चित्त भी भक्ति से उल्लसित होने के कारण अधिक समय तक भगवान के सानिध्य में रहना चाहता है, साथ ही श्रावक अपने मन की कमजोरी को भी जानता है, अतः चित्त की स्थिरता के लिए द्रव्यों का अवलम्बन अनिवार्य हो जाता है, एवं उपासक के चित्त में भक्ति के जो भाव उछलते हैं, उनकी अभिव्यक्ति उसके स्वतः संतुलित वचन एवं काय के द्वारा होती है।

आगम एवं पूजा की परंपरा में द्रव्यों की संख्या आठ निर्धारित की है। यद्यपि विवशता में, आठ द्रव्य उपलब्ध नहीं होने पर पूजा एक द्रव्य से भी सम्पन्न हो सकती है; किन्तु आगम एवं परंपरा की गरिमा की सुरक्षा के लिए जब आठ द्रव्य उपलब्ध हो सकते हों तो पूजा आठ द्रव्य से ही करना चाहिये। वैसे भी पूजा में आदि से अंत तक एक ही द्रव्य की आवृत्ति से चित्त उतना स्थिर नहीं हो सकता जितना आठ द्रव्यों के माध्यम से।

पूजा में द्रव्यों की संख्या आठ ही क्यों स्वीकार की गई? यह भी एक आम प्रश्न है। वैसे तो हर संख्या की

स्वीकृति में ही यह प्रश्न खड़ा रहता है कि इतनी ही संख्या क्यों ? इससे कम व अधिक क्यों नहीं ? प्रश्नों की इस बौछार को समाप्त करने के लिए इतना तो आवश्यक है कि संख्या निश्चित होना चाहिए। इसीलिए पूजा में आठ द्रव्य के रूप में, द्रव्यों की एक निश्चित संख्या स्वीकार की गई और जैन पूजा में द्रव्यों की संख्या आठ स्वीकार करने की बात काफी महत्वपूर्ण और मार्मिक लगती है, वह इसलिए कि जैन धर्म में आठ का अंक काफी महत्वपूर्ण है। जिस मुक्ति के लिए श्रावक जिन पूजा करता है उन मुक्त पुरुषों के गुण भी आठ होते हैं, अतः आठ द्रव्य सिद्धों के आठ गुणों के प्रतीक भी हो सकते हैं। (ज्ञानावरणादि) कर्म आठ होते हैं, और उनके क्षय में ही आठ गुण प्रगट होते हैं।

चौदह गुणस्थानों की परिपाटी में आठवें गुणस्थान से मुक्ति की यात्रा तीव्रवेग पकड़ती है, और यदि श्रेणी क्षपक हो, तो निश्चित ही अरहंत दशा प्राप्त होकर सिद्ध दशा प्राप्त होती है। सिद्ध शिला अष्टम वसुधा कहलाती है और मुक्ति के प्रथम चरण सम्यग्दर्शन के अंग भी आठ होते हैं।

जैन धर्म में पूजा के आठ द्रव्यों की परंपरा नवीन नहीं है धवल एवं त्रिलोक प्रज्ञप्ति आदि ग्रन्थों में पूजा के आठ द्रव्यों के उद्धरण उपलब्ध होते हैं। यद्यपि आठ द्रव्य भाव-विशुद्धि के निमित्त होते हैं; तो भी ऐसा लगता है इन द्रव्यों का चयन भावों के किसी व्यवस्थित क्रम के आधार पर नहीं किया गया

है वरन् इन द्रव्यों की उत्तमता, सुलभता, सुरुचिमयता, सौरभ एवं मनोहरता के आधार पर यह स्वीकार किये गये हैं। प्रायः यह द्रव्य आर्य पुरुषों के घर में सुलभ होते हैं और उत्तम भी हैं। लौकिक जीवन की अपेक्षा देखा जाय तो इन द्रव्यों से महती लौकिक विकृतियां भी दूर होती हैं, और लोक जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति भी; इसीलिए यह द्रव्य पूजा में सर्व स्वीकृत हुये। इन द्रव्यों के जो विशेष गुण हैं उनको ही मोक्षमार्ग के विकारों का क्षय करने के लिए प्रतीक के रूप में स्वीकार किया गया। इस प्रकार पूजा में इन द्रव्यों को प्रतीक मानकर भावों की रचना की जाती है। अत यहाँ द्रव्यों की ओर से भावों की रचना का विधान (पद्धति) है। भावों की ओर से द्रव्यों की नहीं। इसका अर्थ यह नहीं है, कि भावों के एकदम द्रव्य के आश्रित हो जाने से भावों की कीमत समाप्त हो जाती हो, वरन् पूजा आलम्बन प्रधान होने से द्रव्यों के अवलम्बन से भावों की विशेष-विशेष विशुद्धि होती जाती है।

आठ द्रव्य चढ़ाने के लिए उन द्रव्यों के साथ जिन मंत्रों की योजना है, उन मंत्रों में भी उन द्रव्यों के विशेष गुण को आत्मा के अन्तर-विकारों के नाश का प्रतीक स्वीकार किया गया है। जैसे-

(1) **जल-** जल का गुण मल को प्रक्षालित करना है। जन्म, जरा, मरण आत्मा के भयंकर अन्तर-विकार का

द्योतक है; अतएव उसके मल के नाश के लिए जल एक उत्तम प्रतीक है।

(2) **चन्दन-** चन्दन ताप का नाश करके शीतलता देता है। आत्मा के लिए भव के ताप से अधिक दूसरा ताप नहीं है; अतएव भवताप के नाश के लिए चंदन एक सुन्दर प्रतीक है।

(3) **अक्षत-** अक्षत को प्रतीक बनाकर अक्षय पद की प्राप्ति का भाव अक्षत का अनुशीलन करने लगता है, और उसके अवलम्बन से पुनः-पुनः अक्षय पद एवं उसके आनंद का स्मरण होता है।

(4) **पुष्प-** लोक जीवन में कामादि की शांति के लिए पुष्प एक महत्वपूर्ण अवयव माना जाता है, अतः यहाँ पूजा में भी काम जैसे भयंकर विकार को नष्ट करने के लिए पुष्प को प्रतीक के रूप में स्वीकार किया गया।

(5) **नैवेद्य-** लोक व्यंजनों से क्षुधा की निवृत्ति होती है अतः क्षुधा नाशक नैवेद्य आत्मा के अनादि क्षुधा रोग के नाश का एक उपयुक्त आलम्बन है।

(6) **दीप-** दीपक अंधकार का नाश करता है आत्मा भी अनादि अज्ञान अंधकार से आवत्त है, अतएव दीपक के सहारे आत्मा के अज्ञान अंधकार के नाश का भाव सहज ही पैदा होताहै।

(7) **धूप-** धूप एक शोधक द्रव्य है। उससे घर का दूषित वायुमण्डल शुद्ध होकर अनेक विजातीय तत्वों का नाश हो जाता है। आत्मा में आठकर्मों के रूप में आठ विजातीय तत्वों का समावेश है और उनसे आठ प्रकार की विकृतियां भी अनादि से ही उत्पन्न हुई हैं, अतएव धूप के अवलंबन से उपासक अपनी उन विकृतियों के नाश के प्रति कटिबद्ध होता है और भविष्य में उनके क्षय के विश्वास से अत्यन्त प्रमुदित भी होता है।

(8) **फल-** फल एक सार्थक द्रव्य है। जैन धर्म में पूजा का सर्वोत्कृष्ट फल मुक्ति की प्राप्ति है- फल चक्षु, रसना, घ्राण आदि इन्द्रियों को प्रचुर तृप्ति प्रदान करके मन को आनन्दित करते हैं, अतः ऐसे फलों को मुक्ति फल के प्रतीक के रूप में स्वीकार करके पूजक मुक्तिफल का विचार करता हुआ मोक्षमार्ग के प्रति और उसके निमित्त रूप पूजा के प्रति परम उत्साहवंत होकर अत्यन्त आनंदित होता है।

आठ द्रव्यों के समुदाय को अर्घ कहते हैं। आठ द्रव्यों के सहारे गृहस्थ श्रावक जो उत्कृष्ट भक्ति एवं भावना करता है, वे सभी भावनायें अर्घ में एकीभूत हो जाती हैं अतः अर्घ के सहारे वह सर्वोत्त्कृष्ट भक्ति में लीन होकर कामना करता है, कि है भगवान मुझे अनर्घ पद अर्थात लोक के संपूर्ण वैभव से असंभव ऐसे अमूल्य मुक्ति पद की प्राप्ति हो।

पूजा के द्रव्यों के सम्बन्ध में समाज में विविध प्रकार की चर्चायें चलती हैं, यह कहा जाता है कि जैनधर्म वीतराग-धर्म है, अतएव पूजा में द्रव्यों के आडम्बर की आवश्यकता नहीं है, कुछ लोग द्रव्य को स्वीकार भी करते हैं तो उनका मानना है कि एक द्रव्य से ही काम चल सकता है, लगभग 35-40 वर्ष पहले ऐसा भी समय आया था कि जब चावल आदि बहुत कम पैदा हुए थे और लोगों को खाने के लिए भी चावल कठिनाई से उपलब्ध होते थे, तब अनेक बौद्धिक लोगों का यह मन्तव्य भी हो गया था कि पूजा में चावल आदि सामग्री बिल्कुल व्यर्थ बरबाद होती है, क्योंकि उसके बिना ही भावों से भगवान की भक्ति की जा सकती है और वीतराग भगवान को चावल, बादाम आदि की जरूरत भी नहीं है।

वैसे ये विचार सुनने में काफी अच्छे लगते हैं, क्योंकि जैन धर्म वास्तव में वीतराग है, किन्तु इन विचारों के समय संभवतः लोग ये भूल जाते हैं, कि जैन धर्म तो वीतराग है लेकिन हम सभी पूर्ण वीतराग नहीं हैं, और पूर्ण वीतराग होने के पहले श्रावकों एवं मुनियों को भी समुचित व्यवहार सुनिश्चित रूप में होता है। उस व्यवहार में आत्मा के पुण्य परिणाम के साथ वचन और काय की क्रियायें एवं उन क्रियाओं की सम्पन्नता के साधक पदार्थों का ग्रहण, ये सभी बातें सम्मिलित होती हैं।

यह सारी पद्धति हम लोक व्यवहार में भी स्वीकार करते हैं। किसी व्यक्ति के प्रति हमारा स्नेह अथवा सम्मान है तो उसके साथ ही स्नेह को अभिव्यक्त करने वाली वचन और काय की क्रियायें भी सुन्दर होती हैं और उस स्नेह अथवा सम्मान के प्रतीक के रूप में हार, श्रीफल आदि का आदान-प्रदान भी होता है, यह व्यवहार की ऐसी भूमिका है जिसमें गरीब और अमीर का भेद अस्त हो जाता है और अपनी शक्ति के अनुसार सभी इसका पालन करते हैं। जिसका हम हार अथवा श्रीफल आदि से सम्मान करते है उन्हें तो उनकी आवश्यकता होती नहीं है किन्तु अपना भाव प्रगट करने के लिए उन वस्तुओं का अवलंबन किए बिना हमसे रहा नहीं जाता।

ठीक यही बात धर्म अर्थात् मोक्षमार्ग के व्यवहार के सम्बन्ध में घटित होती रही है। पूजा में जिन द्रव्यों के अवलंबन से सच्चे मोक्षमार्ग के योग्य भाव विशुद्धि की रचना होती है, उन द्रव्यों की भूमिका मोक्षमार्ग की रचना में सामान्य नहीं होती, वरन् बहुत कीमती होती है, और लोक में भले ही उन द्रव्यों की कीमत आंकी जाती हो किन्तु मोक्षमार्ग की रचना जैसे महान महत्वपूर्ण कार्य के साधन के रूप में उनकी कीमत नहीं आंकी जा सकती। सचमुच इस रूप में वे अनमोल होते हैं और जिन द्रव्यों के सहारे आत्मा के कीमती भावों का निर्माण होता हो उन द्रव्यों का सम्मान

भावों से कम नहीं हो सकता, इसलिए यह विचार एकदम निन्दनीय, दरिद्र एवं दुर्भाग्यपूर्ण है कि जैन धर्म वीतराग है अतः पूजा आदि कर्मों में द्रव्य का कोई महत्व नहीं है। लोक व्यवहार में चूल्हे की राख की तरह जो वस्तु हमारे आवश्यक कार्यों में निमित्त होती है, उसे हम काफी सम्हाल कर व्यवस्थित रखते हैं फिर पूजा के द्रव्य का उपयोग तो साक्षात् मोक्षमार्ग के लिए होता है; तो मोक्षमार्ग में उसकी उपेक्षा कैसे की जा सकती है? जिसे जीवन में एक बार भी भोजन मिलता है वह भगवान की द्रव्य पूजा करने में भी समर्थ है, और उसके भावों की ऊँचाईयां उसे दरिद्र भी नहीं रहने देती; क्योंकि जिनेन्द्र पूजा के पवित्र परिणाम से पूर्व के पाप गल जाते हैं और आगे अटूट पुण्य का बंध होता है।

यह तर्क भी सारहीन है कि 'भगवान वीतराग होने से उन्हें द्रव्य की आवश्यकता नहीं है' यद्यपि यह बात सत्य है कि द्रव्य भगवान के लिए नहीं है; किन्तु यह बात भी परम सत्य है कि द्रव्यों को अपने भावों के प्रतीक के रूप में हम भगवान के सामने समर्पित करते हैं, अपने भावों के चिह्न के रूप में भगवान के सामने लाये गये द्रव्यों की समर्पण आदि रूप क्रिया ही न की जाए तो उनका लाना ही व्यर्थ हो जाता। अतएव सचमुच द्रव्य की जरूरत भगवान को नहीं है, वरन् हमको है।

द्रव्य पूजा की पुष्टि धवल, जय धवल जैसे प्राचीन

महान ग्रन्थों से भी होती है और परंपरा की दृष्टि से देखा जाए तो द्रव्य पूजा की यह परंपरा सैकड़ों वर्ष पुरानी है और सभी ज्ञानियों को यह परंपरा स्वीकृत रही है; इसलिए सैकड़ों वर्ष की इस परंपरा में द्रव्य पूजा का कोई विरोध नहीं मिला बल्कि बड़े-बड़े ज्ञानियों एवं विद्वानों ने विविध पूजाओं की रचना करके द्रव्य पूजा की परंपरा को परिपुष्ट ही किया है।

वर्तमान काल के कुछ दशकों में भी अनेक द्रव्य-पूजाओं की रचना हुई है किन्तु कुछ पूजाओं में द्रव्यों के प्रति एक नया चिन्तवन स्वीकार किया गया है वहाँ द्रव्यों को इस रूप में कोसा गया है कि इन द्रव्यों से अब मुझे कोई लाभ नहीं हुआ वरन् नुकसान ही नुकसान हुआ है अतएव हे भगवन्! मैं इन्हें आपके सामने छोड़ने आया हूँ, इस प्रकार द्रव्यों के प्रति हीन भाव प्रगट किया गया है, जिसके कारण पूजा जैसे पवित्र अनुष्ठान के समय ही पूजक के मन में द्रव्यों के प्रति ग्लानि एवं अपमान का भाव पैदा हो जाता है। जो परिणामों की दृष्टि से एक बहुत बड़ी क्षति है। सचमुच पूजा में द्रव्यों की भूमिका काफी महत्वपूर्ण है, उनके निमित्त से भावों की विशुद्धि एक सुनिश्चित क्रम में चलती रहती है अतएव भावों का स्खलन नहीं हो पाता और एकाग्रता बनी रहती है, साथ ही पूजा के मांगलिक द्रव्यों में प्रतीकों के रूप में हम अपने जिन भावों को आरोपित करते हैं, उनसे भाव-विशुद्धि में बहुत स्फुरणा होती है। जिन द्रव्यों से भाव-विशुद्धि जैसे

महान कार्य की सिद्धि होती है, उनके प्रति असम्मान प्रगट करना एक विवेकशून्य अपराध है।

प्राचीन विद्वानों की जितनी भी द्रव्य पूजायें मिलती हैं उनमें कहीं भी द्रव्य की निंदा की पद्धति का व्यवहार नहीं हुआ, अतः द्रव्य पूजा की प्राचीन परंपरा में भी द्रव्यों के सम्मान को सुरक्षित रखा है।

वर्तमान में अध्यात्म के अजीर्ण में "आत्मदेव की पूजा" जैसी पूजाओं की रचना भी हुई है जो एकदम अनुचित है, क्योंकि आत्मदेव की पूजा पूज्य और पूजक के भेद से होने वाली व्यवहार पूजा से नहीं होती, वरन् जहाँ यह भेद अस्त होकर श्रुतज्ञान का शुद्धात्मा के साथ तादात्म्य हो जाता है उस निर्विकल्प स्थिति को आत्मदेव की पूजा कहते हैं। द्रव्य पूजा अर्थात् व्यवहार पूजा में रत्नत्रय विशिष्ट आत्मा की शुद्ध पर्याय पूज्य होती है, और आत्मदेवता निज शुद्धात्म द्रव्य को कहते हैं, अतः वह द्रव्य पूजा का विषय नहीं हो सकता।

कुछ पूजाऐं ऐसी भी लिखी गई हैं जिनमें नित्य नियम की तीन पूजाओं को एक में ही घुसेड़ने का प्रयत्न किया गया है; किन्तु पूजा में ऐसी उतावल की आवश्कयता ही नहीं थी, क्योंकि कभी कदाचित् समय कम होने पर एक ही पूजा से सारा काम हो जाता है, अनेक पूजाएं करने का अर्थ अनेक

देवों की पूजा करना नहीं होता, और न पूजाओं की गिनती पूरा करना होता है, वरन् पूजा करने के लिए खड़े हुए गृहस्थ श्रावक का मन एक पूजा से भरता ही नहीं है; अतएव अनेक पूजाओं के बहाने सचमुच तो वह भाव विशुद्धि की मानसिक खुराक को ही पूरा करता है।

ऐसी पूजाओं में यह भी देखा जाता है कि न तो उनके शब्दों में भावों की स्फुरणा है, और न काव्यत्व है, किन्तु अनेक पूजाओं का अनुकरण मात्र करके लिखने और छपने के लिए ही वे पूजाएं लिखी गई हैं।

पूजा में अष्ट द्रव्य का जो व्यवहार होता है उनके कारण पूजा भक्ति के अन्य अंग दर्शन आदि से भक्ति का एक भिन्न अंग सिद्ध हो जाती है। जब भी पूजा की चर्चा चलती है तो हमें अष्ट द्रव्यमय भक्ति के उस अवयव का स्मरण हो जाता है।

क्योंकि पूजा की रचना पद्यों में की जाती है अतएव संगीत उसका एक अनिवार्य सहचर हो जाता है। मनुष्यादि प्राणी जन्म से ही संगीत प्रिय होते हैं और संगीतमय पद्य एवं कवितायें हृदय को सीधा प्रभावित भी करती हैं, अतएव पूजाओं का उच्चारण छन्दों के अनुकूल यथेष्ट संगीत के द्वारा ही होना चाहिए। उससे विशुद्ध भावों का जन्म तो होता ही है साथ ही भावों में विभोरता भी आती है।

सामूहिक पूजाओं में इस बात का विशेष रूप में अनुशीलन करना चाहिए, कि पूजा की चलती हुई संगीत की भावधारा को हमारे स्वर की बेढंग चाल खराब नहीं कर दे। प्रायः सामूहिक पूजाओं में हमारे स्वर की लयहीनता के कारण उत्पन्न यह व्यवधान हमें खलता नहीं है किन्तु सचमुच देखा जाए तो यह एक विवेक-शून्य चेष्टा है जिससे व्यवस्थित क्रम में चलती हुई अनेक लोगों की विशुद्ध भावधारा एकदम आहत होती है। अतएव यदि हमारे पास स्वर नहीं है तो हमें मन में ही पढ़ते हुए पूजा के प्रकरण के साथ चलना चाहिए। जहाँ पूजा की भावधारा संगीतमयता के साथ अपने उत्कर्ष में चल रही हो, वहाँ किसी बेसुरे आदमी का बोल ऐसा लगता है कि जैसे आनंद पूर्वक भात खाते-खाते कंकर आ गया हो।

पूजा के इस महामंगलमय नित्य विधान में यह बात विशेष रूप से स्मरण रखने लायक है कि पूजा ऐसे शांत स्वर में की जाय जिससे दर्शन एवं पूजन करने वाले अन्य लोगों के भावों में व्यवधान न हो।

पूजा की संगीतमयता के कारण उसके साथ वाद्यों का उपयोग भावों में स्फुरणा तो लाता है, किन्तु वाद्यों का उपयोग उस मर्यादा तक ही होना चाहिए, जहाँ तक वे हमारी भावों की रचना में निमित्त बनते हों, वाद्यों की धमाल एवं शोर में पूजा के शब्द एवं पूजा के भाव भी गायब हो जाएं तो यह वाद्यों का सही उपयोग नहीं है। प्रायः वाद्यों के

निर्माण में चर्म आदि का उपयोग होता है। अतएव ऐसे बाद्य तो जिनालय में भी नहीं आने चाहिए; फिर पूजा में तो उनके उपयोग का प्रश्न ही नहीं उठता।

पूजा एवं तत्वज्ञानः- यद्यपि पूजा तत्वज्ञान के बिना नहीं होती किन्तु उसमें आदि से अन्त तक भक्ति की ही मुख्यता रहती है। प्रकरण के अनुसार उसमें तत्वज्ञान आता तो है किन्तु वह भक्ति का ही रूप धारण करके आता है। यद्यपि दोनों ही मोक्षमार्ग के हेतु हैं किन्तु एक ही परिणति के समय दूसरा गौण रहता है। तत्वज्ञान एकान्त चिन्तन की वस्तु है, और भक्ति में भगवान का सानिध्य होता है अतएव तत्व की चिन्तनधारा भक्ति के अवसर पर लम्बी नहीं होती।

पंचकल्याण एवं सोलह कारण आदि पूजाः- सोलह कारण आदि भावना का भाव शुभभाव माना जाता है और वह तीर्थंकर प्रकृति के बंध का हेतु भी आगम में कही गई है और इसी प्रकार भगवान के गर्भ, जन्म आदि कल्याणकों के सम्बन्ध में प्रश्न हो सकता है। प्रश्न यह हो सकता है कि राग तो बंध का कारण है फिर उसकी पूजा कैसे की जाए?

उत्तरः- वास्तव में सोलह कारण आदि अकेला राग नहीं है, उसके साथ सम्यग्दर्शन एवं चारित्र भी विद्यमान रहता है, किन्तु सम्यग्दर्शन एवं सम्यक्चारित्र तो आत्माश्रित एक रूप वृत्तियां हैं, अतएव उनके वर्णन का विस्तार उनके

साथ अनिवार्य रूप से रहने वाले शुभभाव रूप व्यवहार के बिना नहीं हो सकता।

अतः सोलह कारण भावना की पूजा सचमुच राग पूजा नहीं वरन वीतराग पूजा है, जैसे चौसठ ऋद्धि पूजा में कुछ ही ऋद्धियां आत्मा की शुद्ध परिणति हैं, अधिकांश ऋद्धियां तो कर्मोदयजन्य हैं, फिर भी ऋद्धिधारी मुनिराज की पूजा में उन सभी ऋद्धियों के द्वारा मुनिराज का यशोगान एवं पूजा की जाती है।

स्वयं भावलिंगी मुनिराज भी राग एवं वीतरागता के समुदाय होते हैं। अतएव यदि उक्त प्रश्न उठाया जाए तो फिर मुनिराज की पूजा भी कैसे होगी? इसलिए वास्तविकता यह है कि पूजाओं में पूज्य की अन्तरंग एवं बहिरंग सभी विशेषताओं के द्वारा वीतरागता की पूजा होती है। भगवान अरहंत के छियालीस गुण होते हैं, किन्तु देखा जाए तो भगवान के अपने तो चार अनंत चतुष्टय ही हैं शेष तो सब उदयजन्य हैं, फिर भी सभी गुणों के माध्यम से भगवान अरहन्त की पूजा की जाती है।

पंचकल्याणकों में भी भगवान के प्रथम दो कल्याणक गर्भ और जन्म तो राग सहित बालक भगवान के हैं, किन्तु इनक माध्यम से द्रव्य निक्षेप के रूप में भावी अरहन्त भगवान ही पूजित होते हैं।

सचित्त एवं अचित्त पूजाः- यद्यपि आगम में सचित्त फल पुष्पादि एवं अचित्त लवंगादि दोनों प्रकार के द्रव्यों से पूजा की सम्पन्नता का वर्णन मिलता है, किन्तु पूजा में फल-पुष्पादि के उपयोग का वर्णन प्रायः देवों द्वारा की जाने वाली पूजाओं में मिलता है किन्तु साथ ही यह वर्णन भी मिलता है कि देवों के द्वारा ग्राह्य फल, पुष्प दिव्य होते हैं।

सचित्त पूजा के सन्बम्ध में एक विशेष बात तो सदा ही स्मरणीय है कि जैन धर्म अनादि से ही अहिंसा के पवित्र एवं ठोस धरातल पर खड़ा है। अतएव न केवल लोक जीवन में वरन् जीवन के लोकोत्तर विधानों में भी उस भगवती अहिंसा का अधिकाधिक निर्वाह हो- यह जैन श्रावक का कर्त्तव्य ही नहीं वरन दायित्व होता है। पूजा जैसे महान मांगलिक अनुष्ठानों में त्रस एवं स्थावर जीवों की जिनालय जैसे धर्म स्थान में अनावश्यक हिंसा हो यह बात बिल्कुल उचित नहीं है। जैन धर्म में तदाकार स्थापना की तरह अतदाकार स्थापना का विधान भी इसीलिए है कि सचित्त फल पुष्पादि की स्थापना अचित्त प्रासुक एवं मनोहर द्रव्यों में करके पूजा सम्पन्न की जा सके।

ॐ शान्ति

शुद्ध चेतन-तत्व की उपासना : दस लक्षण धर्म

'दस लक्षण धर्म' अथवा 'धर्म के दस लक्षण' अनेक भारतीय दर्शनों का बहुचर्चित विषय है। फिर भी चिन्तन विविधताओं एवं हीन-स्वार्थ की पराकाष्ठाओं से सम्भवतः धर्म के स्वरूप की जैसी मिट्टी पलीत हुई है वैसी और वस्तु की नहीं। सन्तों की स्वरूपलीनता से लेकर किसी धूम्रपान का दान करना भी धर्म घोषित किया गया है। इसका फल यह हुआ कि आत्मा अपने ही मंगलमय धर्म से वंचित रह गया।

धर्म के विषय में जैन दर्शन का चिंतन एकदम मौलिक एवं हृदयग्राही है। उसके स्वरूप के अनुसन्धान में इस दर्शन ने कहा कि 'वस्तु का स्वभाव ही धर्म है' "वत्थु सहावो धम्मो"। यह परिभाषा पर्याप्त संगत प्रतीत होती है क्योंकि इसमें धर्म का आधार धर्मी अर्थात् एक वस्तु को ही स्वीकार किया गया है- जैसे अग्नि का धर्म उष्णता एवं दीपक का धर्म प्रकाश। वस्तु के धर्म का पता करना हो तो स्वयं वस्तु के पास जाना होगा।

अतः धर्म की यह परिभाषा निर्विवाद है क्योंकि यह गढ़कर तैयार नहीं की गई। जहाँ परिभाषायें गढ़ी जाती हैं वहाँ निश्चित ही विवादों का सृजन होता है।

अनन्त जड़ एवं अनन्त चेतन के समुदाय इस अनादि अनन्त विश्व में जड़ का धर्म जड़ता एवं चेतन का धर्म चेतना (ज्ञान दर्शन आदि) होती है। वस्तु को परमुखापेक्षिता से सुरक्षित रखने के लिए ऐसे धर्म अर्थात् शक्तियां प्रत्येक वस्तु में अनन्त होती हैं। एक-एक परमाणु अनन्त शक्ति समन्वित है। ये शक्तियां वस्तु के शाश्वत धर्म हैं जिनकी अभिव्यक्ति परिणति में होती है। शक्ति शाश्वत एवं परिणति क्षणिक होती है। परिणति में दो विकल्प होते हैं। जैसी शक्ति है वैसी ही अभिव्यक्ति हो तो उसे शक्ति की स्वाभाविक परिणति अर्थात् धर्म कहते हैं और शक्ति के विपरीत परिणति हो तो उसे विभाव अर्थात् अधर्म कहते हैं। जैसे एक तोते में कठोर वस्तु को काट देने की शक्ति सदैव विद्यमान होने पर भी अपनी शक्ति का विस्मरण कर वह नलिनी को पकड़ कर उल्टा लटक जाता है और मानता है कि नलिनी ने उसे पकड़ लिया है जबकि नलिनी को तोड़ देने की शक्ति उसमें उस समय भी पूरी की पूरी विद्यमान है। परिणति के इस विपर्यय को विभाव अर्थात् अधर्म कहते हैं।

वस्तु व्यवस्था के इस परिप्रेक्ष्य में यदि हम आत्मा के धर्म की मीमांसा करें तो आत्मा भी श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र एवं आनन्द आदि अनन्त शक्ति सम्पत्ति का धाम एक अनादि, अकृत्रिम, स्वतन्त्र एवं निरपेक्ष चैतन्य तत्व है; किन्तु अपने शक्ति सौन्दर्य के अनादि अबोध के कारण उसे अत्यन्त भिन्न देहादि जड़ सत्ताओं में ही निजत्व की प्रतीति रही है। तब

यह स्वाभाविक है कि कल्पित निजत्व में ही निरन्तर उसका आचरण समाहित हो। फल यह होता है कि देहादि पर-सत्ताओं को वह हर मूल्य पर अपने अधिकार में रखना चाहता है; किन्तु वे अत्यन्त स्वतन्त्र होने से उनमें इसका अधिकार साकार नहीं होता। अतः क्रोध का जन्म होता है। कभी आत्मा को पर-सत्ताओं में अपने प्रयत्नों की सफलता सी लगती है तो इसका मान मचलने लगता है। किन्तु उस सफलता का श्रेय आत्मा को नहीं वरन् वस्तु की श्रृंखलाबद्ध स्वतन्त्र कार्य प्रणाली को ही जाता है। अतः मान नीच वृत्ति है। अनधिकृत वस्तुओं के क्रिया-कलापों को किसी भी प्रकार अपने अनुकूल बनाने के विफल एवं गर्हित प्रयास को मायाचार एवं उनकी तीव्र लिप्सा को लोभ कहते हैं। विकार के अन्य रूप जैसे असत्य, असंयम, अतप, अत्याग, अनाकिंचन्य एवं अब्रह्म प्रकारान्तर से क्रोध, मान, माया, लोभ के ही पर्याय हैं। वास्तव में ये आत्मा के चारित्रिक विकार के ही दस रूप हैं जो पराचरण से निर्मित होते हैं और आत्मा के रमणीय स्वरूप की अज्ञता में इनका जन्म होता है। जैन दर्शन इन्हें अधर्म एवं अपराध कहता है और वृत्तियों में आत्मा को अपने आनन्दमय स्वरूप से च्युत होने के कारण प्रचण्ड आकुलता का वेदन होता है। इन्हीं वृत्तियों को विकार की न्यूनता में पुण्य एवं विकार की अधिकता में पाप कहा जाता है। कर्म बंध का निमित्त भी अज्ञानमय ये वृत्तियां ही होती हैं। ऐसी लोकनीति भी है - स्वच्छ एवं स्वस्थ लोक जीवन से ये अपेक्षायें की जाती हैं कि मनुष्य का आचरण

अनधिकृत में न हो अन्यथा वह दण्डनीय अपराध होता है। इसी प्रकार स्वतन्त्र वस्तु व्यवस्था पर आधारित जैन आचार संहिता की अपेक्षायें हैं कि पवित्र ज्ञान-मय आत्मा की वृत्तियों का विहार परकीय में न हो क्योंकि वह स्वयं ही आनन्द निकेतन है। अतः उसका संचार स्वसत्ता में ही हो।

दसलक्षण जैसे महापर्व का शुभागमन आत्मा की ऐसी ही अपराधिनी वृत्तियों को समाप्त कर जीवन के सुखद अध्याय का प्रारम्भ करने के लिये होता है। विकार अर्थात् अधर्म के सभी रूपों की सृष्टि अनात्मज्ञता के कारण ही बनती है और आत्मानूभति की आनन्द-मय स्थिति में विकार की बस्ती उजड़ने लगती है।

उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य एवं ब्रह्मचर्य धर्म आत्म दर्शन अर्थात् आत्मानुभूति से उत्पन्न आत्म विहार ही है जो क्रमशः वर्द्धमान होकर आत्मा को पवित्रता एवं आनंद की चरमावस्था में स्थापित कर देता है। इन सभी धर्मो का अभ्युदय आत्मा में आत्मानुभूति के क्षण में ही होता है और पूर्णता क्रमशः होती है। सचमुच तो क्रोधादि दस प्रकार के विकारों की ओर से धर्म की ये दस संज्ञायें हैं किन्तु वास्तव में धर्म के दस प्रकार नहीं होते। आत्म-स्वरूप में लीनता ही धर्म की एक मात्र पर्याय है, जिसमें ये सभी धर्म अंतर्भूत हो जाते हैं। विकार में अनेक का अवलंबन होता है अतः उसके अनेक रूप होते हैं। रोग तो अनेक प्रकार के होते हैं किन्तु आरोग्य

अनेक प्रकार का नहीं होता। अनेक प्रकार के रोगों के अभाव में सभी को आरोग्य एक ही प्रकार का उपलब्ध होता है। ऐसे ही आत्मा की स्वस्थ दशा अर्थात् स्वरूप लीनता ही एक मात्र धर्म है जिसे क्रोध के अभाव में क्षमा, मान के अभाव में मार्दव, माया के अभाव में आर्जव, एवं लोभ के अभाव में शौच आदि दस संज्ञाओं से कहा जाता है।

धर्म के क्षमादि दश लक्षण मात्र किसी जैन परिवार की अपेक्षायें नहीं वरन् जीवन तत्व होने से वे प्राणिमात्र की आवश्यकतायें हैं। क्रोध एवं मान आदि दुर्वृत्तियों से मात्र कोई जैन ही व्याकुल नहीं होता सभी प्राणी सर्वत्र एवं सदैव ही परेशान होते हैं। अतः इनका निर्वासन सभी के लिए महासुखद होता है। जीवन के व्यवहार में भी कोई व्यक्ति क्रोध सदा नहीं कर सकता। यदि वह व्यक्ति का धर्म हो और सुखद हो तो उसके सदैव बने रहने की व्यवस्था होना चाहिये। किन्तु विश्व में ऐसी एक भी घटना उपलब्ध नहीं होती।

एक बार उत्पन्न हुआ क्रोध निश्चित ही नष्ट होता ही होता है, फिर भले ही वह पुनः उत्पन्न हो सकता है और स्वरूप लीनता में तो उसका सर्वनाश ही हो जाता है और वह पुनः उत्पन्न ही नहीं होता। अतः परावलम्बी क्रोध के क्रमिक अभाव में आत्मा की वृत्ति जिस ओर गमन करती है और अन्त में जहाँ जाकर विश्राम लेती है, उसे ही स्वभाव कहते हैं। अतः यह त्रिकालाबाधित सत्य है कि प्रत्येक वस्तु विभाव के अभाव में स्वभाव का ही स्पर्श करती है जैसे अग्नि से अलग कर देने पर पानी अपने शीतल स्वभाव की

ओर स्वयं ही गतिमान होता है।

सचमुच तो आत्मा सदा स्वयं ही अनन्त शक्ति अर्थात् अनन्त धर्म मय अक्षय सत्ता है। किन्तु जगत के अन्य पदार्थों से उसे अपनी अक्षय सत्ता की हानि का भ्रम हो जाता है और यही भ्रम अर्थात् अज्ञान सर्व विकारों की जन्म स्थली है। अतः विकार अर्थात् अनन्त कष्टों से मुक्ति होने के लिए अपनी निरापद शुद्ध चैतन्य सत्ता का चिंतन एवं अनुभूति ही एक मात्र पथ है।

दसलक्षण महापर्व उसी रमणीय चैतन्य के अनुभव की पुनीत प्रेरणायें लेकर आता है। सचमुच ये धर्म के दस दिन नहीं, वरन् अब तक यदि धर्म नहीं सीखा गया हो, तो धर्म सीखने के दस दिन हैं और यदि धर्म सीख लिया गया हो, तो उसे आत्मसात करने के अनमोल क्षण हैं। दस दिन की उपलब्धि से हमारे जीवन का हर भावी क्षण दसलक्षण पर्व बन सके तो ही इनकी सार्थकता है। निश्चित ही अपने शुद्ध चेतन तत्व की उपासना के रूप में वह पर्व प्रतिपल ही अभिनन्दनीय है और चिर शांति के लिए जगत के सभी प्राणियों की एकमात्र आवश्यकता के रूप में इस पर्व की सार्वभौमिकता एवं सार्वकालिकता निर्विवाद है।

महावीर का अनैकांतिक अहिंसा दर्शन

अहिंसा जीवन का शोधक तत्त्व है। अहिंसा का सीधा सम्बन्ध आत्मा से है। वह आत्मा का ही निर्विकार कर्म है। आत्मा ही उसका साधकतम करण है। आत्मा ही उसकी सुरम्य जन्म-स्थली है और अहिंसा का सम्पूर्ण क्रिया-कलाप आत्मा के लिये ही होता है उसके फल का उपभोक्ता भी आत्मा ही है। वह आत्मा के अंतरंग बंधनों को तोड़कर जीवन के विकास का पथ प्रशस्त करती है। वास्तव में बहिर्जगत से उसका कोई तात्विक सम्बन्ध नहीं।

इस अहिंसा के साथ महावीर का नाम छाया और शरीर की भाँति जुड़ा हुआ है। वास्तव में महावीर ने मौलिक वस्तुस्वरूप के आधार पर अहिंसा का जो अनैकांतिक स्वरूप जगत के समक्ष रक्खा, जगत् को उनकी वह देन अद्भुत एवं अद्वितीय है। महावीर का अहिंसा दर्शन एक सर्वांगीण जीवन दर्शन है। वह जीवन को जहाँ से उठाता है उसे विकास के चरम बिन्दु पर ले जाकर रख देता है।

जीवन के निर्माण में अहिंसा की महती उपयोगिता को विस्मृत करके आज उसे केवल 'जिओ और जीने दो' की संकुचित सीमाओं में प्रतिबद्ध कर दिया गया है। इससे जनजीवन में अहिंसा विकृत ही नहीं हुई है वरन् उसका

स्वरूप ही जीवन और जगत से लुप्त सा हो गया है। इसका फल यह हुआ कि आज व्यक्ति को अपने जीवन के लिये अहिंसा की कोई उपयोगिता नहीं रही। उसका उपयोग केवल दूसरे प्राणी को बचाने के अनधिकृत तथा विफल प्रयास तक ही सीमित रह गया है। कोई प्राणी बच गया है उसका सम्पूर्ण श्रेय अहंकार के शिखर पर चढ़ा आज का अहिंसक अपने ऊपर लेकर पुण्य संचय से मन में परम सन्तुष्ट होता हुआ स्वर्ग के कृत्रिम सुखों की कल्पनाओं से मन ही मन पुलकित होता रहता है। दूसरे प्राणी को बचाने के विफल प्रयास मूलक अहंकार-गर्भित अहिंसा का यह रूप महावीर के दर्शन में हिंसा ही घोषित किया गया है।

अहिंसा के मूलाधार आत्मा का यदि हम भारतीय दर्शनों की कसौटी पर परीक्षण करें तो हमें ज्ञात होगा कि लगभग सभी भारतीय दर्शनों ने एक स्वर से आत्मा की अमरता को स्वीकार किया है। वहाँ हमें सुनने को मिलता है कि आत्मा अजर है, अमर है, वह शस्त्रों से भी नहीं छिदता, अग्नि में नहीं जलता इत्यादि। एक ओर तो हमें आत्मा की अमरता के ये गीत सुनाई देते हैं और दूसरी ओर हम 'जियो और जीने दो' का राग भी अलापते चलते हैं। यदि आत्मा स्वभाव से अमर है तो फिर एक प्राणी के द्वारा दूसरे प्राणी के वध और रक्षा की कल्पना भी कैसी! हाँ, आत्मा अमर होते हुये भी उसके वध और रक्षा का अज्ञान

वस्तुस्थिति के अविवेक से उत्पन्न तो हो सकता है किन्तु इस अज्ञान के साथ आत्मा के वध और रक्षा जैसी अघट घटनायें भी घटने लगें यह असम्भव है। अथवा नीचे की भूमिका में ज्ञानी को भी ऐसा राग आता है किन्तु आत्मा के वध और रक्षा की व्यवहारनयात्मक शैली में निहित अपेक्षाओं को समझे बिना आत्मा के वध और रक्षा का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया जाय तो आत्मा की अमरता का सिद्धान्त काल्पनिक ही रह जायेगा।

महावीर ने अहिंसा का जो भव्य स्वरूप विश्व को दिया वह अनेकांत से अनुशासित होने के कारण अपने में इतना परिपूर्ण है कि दूसरे जीव को बचाने रूप स्थूल लौकिक अहिंसा तो उसमें सहज ही पालित होती चलती है। आत्मा की अमरता का सिद्धान्त स्वीकार कर लेने पर 'क्योंकि जीव मरता ही नहीं है' इस सिद्धान्त से छल ग्रहण करके हिंसावृत्तियों को प्रोत्साहित करने के लिये वहाँ रंच भी अवकाश नहीं, किन्तु क्योंकि जीव मरता ही नहीं है अतः जीव को मारने के भ्रम की विफलता शांत हो जाने पर वध और रक्षामूलक अहंकार तो समाप्त हो ही जाता है साथ ही शनैः शनैः हिंसावृत्तियों का भी शमन होने लगता है। फलस्वरूप आत्म पौरुष का उपयोग एवं प्रयोग केवल आत्म विकास के लिये ही होने लगता है।

महावीर के अनैकांतिक शासन में चेतन एवं जड़ सभी की अपनी-अपनी स्वतन्त्र सत्ता है। सभी पदार्थ एक दूसरे से अत्यन्त पृथक रहकर अपने गर्भ में विद्यमान अनंत शक्तियों के बल पर ही अपना जीवन संचालित करते रहते हैं। प्रत्येक जड़ चेतन पदार्थ की काया परस्पर विरूद्ध अनंत धर्मों से निर्मित है। ये परस्पर विरूद्ध धर्म उस वस्तु के वस्तुत्व की रक्षा करते हैं। समयसार परमागम की तीसरी गाथा की टीका करते हुये आचार्य श्री अमृतचन्द्र ने वस्तु के इस अनैकांतिक स्वभाव की महिमा के गीत इस प्रकार गाये हैं :-

एयत्तणिच्छयगदो समओ सव्वत्थ सुंदरो लोए।
बंधकहा एयत्ते तेण विसंवादिणी होदि।।

"एकत्वनिश्चय को प्राप्त समय लोक में सर्वत्र सुन्दर है। इसलिये एकत्व में दूसरे के साथ बंध की कथा विसंवाद-विरोध करने वाली है।"

टीका..... लोक में सर्वत्र जो कुछ जितने पदार्थ हैं वे सब निश्चय से एकत्व निश्चय को प्राप्त होने से ही सुन्दरता को प्राप्त होते हैं। वे सब पदार्थ अपने द्रव्य में अन्तर्मग्न रहने वाले अपने अनंत धर्मों के चक्र को चुम्बन करते हैं - स्पर्श करते हैं तथापि वे परस्पर एक दूसरे को स्पर्श नहीं करते। अत्यन्त निकट एकक्षेत्रावगाहरूप से तिष्ठ रहे हैं तथापि वे सदाकाल अपने स्वरूप से च्युत नहीं होते, पररूप परिणमन

न करने से अपनी अनन्त व्यक्ति नष्ट नहीं होती इसलिये जो टंकोत्कीर्ण की भाँति स्थित रहते हैं और समस्त विरुद्ध कार्य तथा अविरुद्ध कार्य दोनों की हेतुता से वे विश्व का सदा उपकार करते हैं, टिकाये रखते हैं। इस प्रकार सर्व पदार्थो का भिन्न-भिन्न एकत्व सिद्ध होने से जीव नामक समय को बंध की कथा से विसंवाद की आपत्ति आती है।

वस्तु के अनैकांतिक स्वरूप में परस्पर विरूद्ध दो पहलू स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं। एक उसका वह पहलू है जिसके कारण जो कुछ उसका अपना है उसी में रहता है। वह पदार्थ अपने द्रव्य (त्रैकालिकता) अपने क्षेत्र (प्रदेश) अपने काल (क्षणिकपर्याय) और अपने भाव (अनन्त शक्तियाँ) की चतुः सीमा में ही विद्यमान रहता है। इसे वस्तु का अस्ति धर्म कहते हैं। इसके विरुद्ध उसका एक दूसरा पहलू है जिसके कारण उसकी चतुः सीमा (चतुष्ट) में उससे भिन्न सम्पूर्ण विश्व का प्रवेश निषिद्ध है इसे पदार्थ का नास्ति धर्म कहते हैं। इस प्रकार पदार्थ स्वयं ही अनेकांत है। इन्हीं विशेषताओं के कारण चेतन सदा चेतन रहता है और जड़ सदा जड़ ही रहता है। सभी प्रति समय स्वतन्त्र, कोई एक-दूसरे के कार्य का कर्त्ता नहीं है। जड़ सदा अपना काम करता है और जड़ कभी अन्य जड़ तथा चेतन को लाभ-हानि नहीं करता। चेतन कभी जड़ के कार्य का कर्त्ता तथा कारण नहीं बनता और जड़ कभी अन्य जड़ तथा चेतन के कार्य का कर्त्ता तथा

कारण नहीं बनता। चेतन तथा जड़ सभी पदार्थ अपने में विद्यमान अनित्य धर्म के कारण सदा स्वतः प्रतिक्षण अपनी अवस्थाओं में परिवर्तन किया करते हैं। यही वस्तु की मर्यादा है। अपनी इस मर्यादा में विद्यमान पदार्थ को अपने अनादि-अनन्त जीवन में अन्य अनन्त पदार्थों का संयोग भी होता है और वियोग भी, किन्तु वह समस्त संयोग-वियोग वस्तु की सीमा के बाहर ही होता है। वस्तु में प्रति समय उत्पन्न होने वाले कार्यो में अनन्त पदार्थ निमित्त भी बनते हैं किन्तु वे भी वस्तु की सीमा के बाहर ही रहते हैं। वस्तु के कार्य क्षेत्र में उनका प्रवेश नहीं होता। यह जैनदर्शन में अनेकान्त की स्थिति है जिसके कारण सारा अनन्त विश्व अपने स्वरूप में व्यवस्थित रहता हुआ अनन्त सौन्दर्य को प्राप्त होता है।

पदार्थ एक ही समय में स्व-अपेक्षा अस्तिरूप तथा पर-अपेक्षा नास्तिरूप ही है। इस प्रकार वह अस्तिरूप भी है और अपने में पर के अभाव के कारण वही नास्तिरूप भी है। वह द्रव्य-अपेक्षा नित्य ही है। क्योंकि पदार्थ के सम्बन्ध में 'यह वही है जो पहले देखा था' इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञानात्मक प्रतीति उसकी नित्यता को घोषित करती है। तथा पदार्थ पर्याय-अपेक्षा अनित्य ही है। क्योंकि उसका रूपांतर प्रतिसमय भासित होता है। इस प्रकार वह एक ही समय में नित्यानित्यात्मक है। वह द्रव्य अपेक्षा भी नित्य हो

और पर्याय अपेक्षा भी नित्य हो, अथवा वह द्रव्य अपेक्षा नित्य भी हो और अनित्य भी ऐसा नहीं है। एक जीव स्व-अपेक्षा से भी जीव हो और अन्य जीव तथा जड़ की अपेक्षा भी जीव हो अथवा वह जीव भी हो और अजीव भी हो अथवा वह स्वकार्य भी करता हो और परकार्य भी; अनेकान्त में 'भी' का ऐसा गलत प्रयोग नहीं होता। उसमें वस्तुस्वभाव के विरुद्ध कोई कल्पना नहीं होती। यदि कर्त्ता कोई एक पदार्थ हो, उसका कार्य किसी दूसरे पदार्थ में हो और कारण कोई तीसरा पदार्थ हो तो तीनों में से कार्य के फल का उपयोग कौन करेगा ? यह बड़ी दुविधा उत्पन्न हो जायेगी। अतः एक पदार्थ अभिन्न भाव से स्व का कर्त्ता, कर्म, करण है ऐसा अस्ति-मूलक भाव तथा वह पर का कर्त्ता, कर्म, करण नहीं है ऐसा नास्तिमूलक भाव अनेकान्त है।

कर्त्ता, कर्म, करण, अभिन्न एक ही वस्तु में होते हैं - ऐसा अबाधित नियम है। अतः भिन्न पदार्थों में यदि परस्पर कर्त्ता, कर्म, करणत्व की संभावना की जाये तो उनके ऐक्य का प्रसंग उपस्थित होगा और यही एकांत है। क्योंकि दो पदार्थ कभी एक-दूसरे में अपनी सत्ता का विलय करके एक होते नहीं हैं। यदि ऐसा होने लगे तो विश्व का स्वरूप ही नष्ट हो जायेगा। अतः ऐसे एकांत की कल्पना सर्वथा मिथ्या है। पदार्थों के परस्पर आत्यंतिक पृथकत्व के कारण जड़-चेतन, चेतन-चेतन, तथा जड़-जड़ में कभी कर्त्ता-कर्म तथा कारण-कार्य

भाव बनता ही नहीं है। इस प्रकार एक ही पदार्थ में अस्ति-नास्ति, नित्य-अनित्य, एक-अनेक, तत्-अतत् आदि परस्पर विरुद्ध अनन्त सापेक्ष धर्म विद्यमान रहते हैं जिन्हें अनेकान्त कहते हैं, और यह अनेकान्त वस्तुस्वभाव है। पदार्थ में अनन्त शक्ति की विद्यमानता अन्य दर्शन भी स्वीकार करते हैं किन्तु जो वस्तु के वस्तुत्व के नियामक हैं उन परस्पर विरुद्ध अनन्त सापेक्ष धर्मों की एक ही वस्तु में विद्यमानता केवल जैन दर्शन ही स्वीकार करता है। इस प्रकार जैन दर्शन का सम्पूर्ण तत्वज्ञान-प्रासाद अनेकान्त की ठोस आधार-शिला पर खड़ा हुआ है।

अनेकान्त की इस कसौटी पर यदि हम हिंसा-अहिंसा की परीक्षा करके देखें तो हमें विदित होगा कि जब एक जीव सम्पूर्ण जड़-चेतन विश्व से भिन्न अपने स्वरूप में ही सदा प्रतिष्ठित रहता है और नित्य ध्रुव रहकर प्रतिक्षण अपना विकारी अथवा निर्विकारी उत्पाद-व्यय स्वयं ही निरपेक्ष भाव से किया करता है तो एक जीव हिंसक और दूसरा हिंस्य इस प्रकार का द्वैत ही उत्पन्न नहीं होता। जीव का प्रति समय का उत्पाद-व्यय ही उसका जीवन-मरण है जो वस्तुस्वभाव है। इस उत्पाद-व्यय की सरिता में जीव प्रति समय उन्मग्न-निमग्न हुआ करता है। यही उसका व्यापार है। तब फिर कौन किस समय किसकी हिंसा अथवा रक्षा करे ? यदि एक जीव के जीवन और मरण को किसी अन्य जड़ अथवा

चेतन पदार्थ का अधिकार स्वीकार कर लिया जाय तो फिर किसी जीव के वध के सहस्र प्रयत्न करने पर भी उसका वध शक्य क्यों नहीं होता और किसी जीव की रक्षा के लक्ष-लक्ष प्रयत्न भी विफल क्यों हो जाते हैं?

इस प्रकार एक जीव तथा अन्य जड़-चेतन पदार्थों में परस्पर वध्य-घातक भाव असिद्ध होने पर भी यह प्रश्न उत्पन्न होना स्वाभाविक है कि लोक में जीव को मारने और बचाने का जो अनादि व्यवहार प्रचलित है क्या वह सर्वथा असत् है? यदि अनेकान्त प्रकाश में वस्तुस्थिति का अवलोकन किया जाय तो यह निर्विवाद है कि वस्तु स्थिति का इस लोक व्यवहार से कोई सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि कोई जीव अपने चतुष्ट की चतुः सीमा से बाहर कभी निकलता ही नहीं है। जिसे हम व्यवहार में हिंसक कहते हैं वह भी सदा अपनी सीमा में विद्यमान है और जिसे हम हिंस्य कहते हैं वह भी अपनी सीमा कभी छोड़ता नहीं है। दोनों स्व-स्व कार्य निरत है। जिसे हम हिंसक कहते हैं वह हिंसा के विकल्प रूप अपने विकारी कृत्य में निरत है तथा जिसे हम हिंस्य कहते हैं वह अपनी अवस्था के वर्तमान आकार का परित्याग करके दूसरे आकार को प्राप्त करने जा रहा है। अतः वध और रक्षा का व्यवहार वास्तविक नहीं वरन् औपचारिक ही है। 'भगवान की कृपा से मुक्ति मिली' तथा 'गुरु के प्रसाद से ज्ञान मिला' आदि निमित्त की मुख्यता से अगणित उपचार होते हैं; किन्तु

वस्तुस्थिति इस कथन के अनुकूल नहीं होती। भगवान की वीतरागता में कृपा के लिये कोई अवकाश नहीं है। हाँ, प्रत्येक प्राणी उनकी वीतरागता से अपनी पात्रता के अनुकूल प्रेरणा ले सकता है यही उनका निमित्तत्व है और इसी को व्यवहार में उनकी कृपा कहते हैं। इसी प्रकार गुरु के द्वारा प्रतिपादित तत्त्व को सम्पादित किये बिना गुरु का प्रसाद भी कुछ नहीं है। इस प्रकार के कथन में विद्यमान, अनुकूल निमित्त को कार्य के कर्तृत्व का श्रेय देते हुये भी उसी के साथ परिणत उपादान को ही कार्य के कर्तृत्व का सम्पूर्ण श्रेय है। क्योंकि कार्य उपादान में उसकी स्वशक्ति से ही निष्पन्न होता है।

वस्तु की इस अंतरंग (उपादान) एवं बहिरंग (संयोगी) स्थिति को जानने एवं प्रस्तुत करने की दो पद्धतियां लोक एवं आगम सम्मत हैं। जो वस्तु की अंतरंग स्थिति को निरपेक्ष रूप में प्रस्तुत करती है उस शैली को निश्चयनय कहते हैं और जो वस्तु के बाह्य वातावरण के अध्ययन द्वारा वस्तु का प्रतिपादन करती है उस शैली को व्यवहारनय कहते हैं। इन दोनों नयों के प्रकाश में यदि हम हिंसा-अहिंसा की समीक्षा करें तो 'एक जीव दूसरे जीव का वध अथवा रक्षा करता है' इस निमित्त सापेक्ष कथन में निश्चयनय का यह स्वरूप तो अविकल ही रहता है कि कोई जीव किसी के प्राणों का अपहरण अथवा रक्षा नहीं कर सकता। किन्तु जब कोई प्राणी आयु परिवर्तन के क्षण को प्राप्त होकर स्वयं ही अन्य

गति के प्रति गमन करता है तब सहज विद्यमान अनुकूल चतुर्दिक वातावरण पर उसके मरण के कर्तृत्व का उपचार किया जाता है, यह व्यवहारनय की औपचारिक शैली है जो वस्तु की बहिरंग स्थिति के द्वारा वस्तु को प्रस्तुत करती है। इस प्रकार लोक में वध एवं रक्षा के रूप में हिंसा-अहिंसा का जो व्यवहार प्रचलित है वह वास्तविक नहीं वरन् औपचारिक ही है।

इस सम्पूर्ण विवेचन से यह बात तो स्पष्ट हो ही जाती है कि कोई किसी का वध नहीं कर सकता और किसी प्राणी की किसी के द्वारा रक्षा नहीं हो सकती। तब प्रश्न हो सकता है कि यदि ऐसा है तो क्या जगत में हिंसा-अहिंसा नाम की कोई चीज ही नहीं है? इस प्रश्न के समाधान के लिये हमें हिंसा-अहिंसा के स्वरूप पर विचार करना होगा। वास्तव में हिंसा-अहिंसा आत्मा की पर्यायें हैं। जड़ में उनका जन्म नहीं होता। यदि कोई पत्थर किसी प्राणी पर गिर जाय और उसके निमित्त से उस प्राणी की वर्तमान पर्याय का अन्त हो जाये अर्थात् मरण हो जाय तो पत्थर को हिंसा नहीं होती किन्तु कोई जीव किसी के वध का विकल्प करे तो उसे अवश्य हिंसा होती है, अतः हिंसा-अहिंसा चेतन की विकारी तथा निर्विकारी दशायें हैं, आत्मा अपने में स्वाधीनता से उनको उत्पन्न करता है। हिंसा का लक्षण 'प्रमत्त योगात् प्राणव्यपरोपणं' कहा है। प्रमत्त योगरूप कर्म आत्मा के शुद्ध चैतन्यस्वरूप

भावप्राण का व्यपरोपण अर्थात् विकृति करता है और यह विकृति ही हिंसा है। प्रमत्त-योग आत्मा का विकारी कर्म है अतः वह प्रमत्त योगरूप कर्म आत्मा के शुद्ध चैतन्य स्वरूप भावप्राण का व्यपरोपण अर्थात् विकृति करता है और यह विकृति ही हिंसा है। प्रमत्त-योग आत्मा का ही विकारी कर्म है अतः उस प्रमत्तयोग रूप विकारी कर्म का फल प्राणव्यपरोपण भी आत्मा में ही होता है। प्रमत्तयोग रुप अपराध एक आत्मा करे और उसका फल प्राण व्यपरोपण कोई दूसरा प्राणी भोगे यह अनर्थ लोक में भी सह्य नहीं होता। अतः परप्राण-व्यपरोपण सर्वथा अशक्य होने पर भी किसी प्राणी के वध अथवा रक्षा के अहं अथवा विकल्प से अकर्त्ता तथा अकृत आत्मतत्व की सुन्दर कृति (स्वरूप) की विकृति होने के कारण यह अहं तथा विकल्प उस पवित्र अकर्ता आत्मतत्व का विरोधी होने के कारण हिंसा है। आचार्य श्री अमृतचन्द्र ने भी पुरुषार्थसिद्धि-उपाय में 'अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति' रागादि के अप्रादुर्भाव को अहिंसा और उनकी उत्पत्ति को ही हिंसा कहा है, अतएव चित् विकार का अविनाभाव होने के कारण वे सब हिंसा की ही पर्यायें हैं। किसी प्राणी के वध अथवा रक्षा के विकल्प को अर्थक्रिया-कारित्व प्रदान कर सकना जीव के अधिकार क्षेत्र के बाहर होने के कारण वह विकल्प अशक्यानुष्ठान है अतएव किसी प्राणी के वध एवं रक्षा का 'अहं' छोड़कर विज्ञ पुरुष सभी प्रकार के विकल्पों से अतीत

अपने शुद्ध अकर्ता स्वरूप में ही विश्राम करना श्रेयस्कर समझते हैं और यही शुद्ध आत्मव्यवहार है।

अहिंसा का यह स्वरूप स्थिर हो जाने पर पुनः यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि किसी प्राणी का वध तो हिंसा है ही किन्तु यदि उसकी रक्षा का विचार भी हिंसा है तो फिर दूसरे प्राणी की रक्षा का भद्र विचार और व्यवहार भी छोड़ देना चाहिये। इसका समाधान यह है कि दोनों प्रकार के विकल विकल्पों का परिणाम करके वधमूलक अशुभ विचार में प्रवृत्ति करना तो युक्त नहीं है। जैसे औषधि अनुपादेय होने पर भी उसे छोड़कर रोग में प्रवृत्ति करना अच्छा नहीं होता। हाँ, आरोग्य लाभ के अवसर में औषधि का परित्याग अवश्य उपादेय होता है। अतः 'विषस्य विष मौषधम्' के समान वध-मूलक अशुभ विचार तथा अशुभाचार रूप हिंसा से बचने के लिये रक्षामूलक शुभ विचार तथा शुभाचार का निर्बल दशा में अंगीकार होता है पर यह अंगीकार अनुपादेय दृष्टिपूर्वक छोड़ने के लिये ही होता है।

लोक में आज हिंसा व अहिंसा स्वरूप केवल बाह्याचार में संकुचित हो गया है। उसके मूलाधार आत्मा के परिणाम से मानों उसका सम्बन्ध ही टूट गया है। यह अविवेक की पराकाष्ठा है जो लोक में अनाचार को प्रोत्साहित करती है। मन में चाहे कितने ही निंद्य पापमय विचार उत्पन्न हों किन्तु यदि उनके साथ किसी प्राणी की पीड़ा नहीं हुई तो वह हिंसा

नहीं मानी जाती। किन्तु यह अविवेक न केवल जैन दर्शन वरन् समग्र भारतीय दर्शन को भी सम्मत नहीं है। किसी व्यक्ति को हमारे मायाचार का पता न लगे और वह प्रपीड़ित न हो तो हम हिंसक ही नहीं हैं। कोई व्यक्ति परिस्थिति की विवशता में अपनी वस्तु हमें अर्द्धमूल्य में प्रस्तावित करे तो अर्द्धमूल्य में उसके क्रय जैसा निर्दय कृत्य करके भी हम अहिंसक ही बने रहते है। यदि परप्राण परिपीड़न तक ही हिंसा सीमित हो तो मुनि के गले में सर्प डालकर श्रेणिक सातवें नरक का कर्म क्यों उपार्जित करते? मुनि को तो इस कृत्य से कोई पीड़ा नहीं हुई थी। किसी के पैर का कांटा निकालने अथवा शल्य-क्रिया करने में शरीररूप द्रव्य-प्राण का छेद भी होता है और उसके भाव प्राणों का पीड़न भी होता है पर शल्यकर्ता हिंसक तो नहीं कहलाते, किसी अंधे को पत्थर मारने पर यदि उसके नेत्र खुल जायें तो पत्थर मारने वाला अहिंसक तो नहीं है। न केवल चेतन वरन् किसी जड़ आकृति पर भी रोष की उत्पत्ति में हिंसा अनिवार्य है। आज आत्मपरिणामशून्य कुछ निश्चित शुभाचार नित्य करके हम 'धर्मात्मा' का ताज अपने शीश पर पहिन लेने का दंभ करते हैं किन्तु यह विस्मरणीय नहीं है कि जिस आचार के साथ विचार की तद्रूपता नहीं है उसके फल में हमें शुभत्व की आशा नहीं करनी चाहिये वरन् वहाँ अशुभ फल की ही संभावनायें अधिक होती हैं। अतः जीवन को मुक्ति

के प्रशस्त पथ पर अग्रसर करने के लिये यह अनिवार्य है कि आत्मा में जगत की अकर्त्ता तथा अकृत स्थिति के प्रति अविश्वास रूप महाबंध का अंत हो तथा उसमें विवेक और सदाचार का उदय हो। लोक में पारस्परिक दंभ, द्वेष और घृणा का उन्मूलन करने के लिये भी आवश्यक है कि हम अपने में सन्तुष्ट होकर अपनी वासनायें घटायें और परिग्रह की संचय-वृत्ति घटाकर सभी प्राणियों को अपने स्वत्व की उपलब्धि का अवसर दें।

प्रमत्तयोग पूर्वक चित्-विकार के अभाव के रूप में अहिंसा का स्वरूप हृदयंगम कर लेने पर विश्व के स्वचालित क्रमबद्ध जीवन-प्रवाह पर अपना स्वत्व स्थापित कर उसमें पद-पद पर हस्तक्षेप करके उस प्रवाह-क्रम को बदल देने के मिथ्या अहंरूप महापाप का तो अंतिम संस्कार हो ही जाता है साथ ही जागृत एवं गतिमान पुरुषार्थ से जीवन की रही-सही दुर्बलतायें भौतिक अपेक्षायें भी अतीत होती जाती हैं और जीवन निरपेक्षता की उच्चतर भूमिकाओं पर आरोहण करता हुआ अंत में पूर्ण निरपेक्ष अथवा मुक्त बन जाता है। जीवन की इस उच्चतम निरपेक्षता को सिद्ध अथवा परमात्मा कहते हैं और यह परम निराकुल निर्विकार स्थिति ही अहिंसा का अमृत-फल है।

यही महावीर की अहिंसा का अनैकांतिक दर्शन है और यह महावीर के दर्शन की अनैकांतिक अहिंसा है।

अपरिग्रह-एक अनुचिंतन

परिग्रह का लक्षण:- परि+ग्रह । परि अर्थात् चारों ओर से ग्रह माने ग्रहण करना। तीन लोक के प्रति जो ममता है वह परिग्रह है। अर्थात् भिन्न पदार्थों के द्रव्य-गुण-पर्याय अथवा द्रव्य क्षेत्र-काल-भाव के प्रति आत्मा का जो अज्ञानमूलक स्वामित्व है उसे परिग्रह कहते हैं। उसका दूसरा नाम मूर्छा अथवा ममत्व परिणाम भी है। सूत्रकारों ने भी "मूर्छा परिग्रह" ऐसा ही उसका लक्षण किया है। परिगृह का यह निर्दोष लक्षण है; क्योंकि लौकिक मान्यता की तरह यदि केवल बाह्य पदार्थ के संयोग मात्र को परिग्रह कहें तो यह लक्षण अव्याप्ति, अतिव्याप्ति दूषणों से दूषित होगा; क्योंकि बाह्य पदार्थों का संयोग होने पर भी आत्मा में उनके साथ मूर्छा का अविनाभाव नहीं है। अर्थात् जहाँ बाह्य पदार्थ हो वहाँ उनके प्रति मूर्छा और ममता भी हो ऐसा आवश्यक नहीं है और बाह्य पदार्थ न हो किन्तु आत्मा में मूर्छा अथवा ममत्व परिणाम वर्तता हो तो वह परिग्रह ही है; क्योंकि परिग्रह पाप है और उसका जन्मस्थल केवल चैतन्य आत्मा ही हो सकता है और उसके फल का भागी भी आत्मा ही होता है। जड़ पदार्थ न पाप है न पुण्य। इसलिये उनको हिंसा, असत्य, परिग्रह आदि नहीं कहा जाता। जड़ पदार्थ मूर्छा अर्थात्

परिग्रह के आधार अथवा निमित्त तो होते हैं और परिग्रह के निमित्त होने के कारण ही आत्मा की परिधि के बाहर रहने वाले चेतन-अचेतन पदार्थों को परिग्रह संज्ञा दी जाती है; क्योंकि मूर्छा का निमित्त (आधार) आत्मा स्वयं नहीं होता किन्तु जिसके प्रति वह अपना स्वामित्व रखता है वे ही उसके निमित्त बनते हैं। इसलिये महर्षियों ने बाह्य परिग्रह के त्याग की प्रेरणायें की हैं; किन्तु बाह्य परिग्रह के त्याग का अर्थ केवल बाह्य वस्तुओं का क्षेत्रान्तर होना मात्र नहीं वरन् आत्मा के भीतर से उनकी आसक्ति का बहिष्कार है। बाह्य पदार्थों के छूटने पर भी यदि वह रह जाती है तो वह व्यक्ति बाह्य से नितान्त अपरिग्रही दीखते हुये भी घोर परिग्रही है।

नियम ऐसा है कि बाह्य परिग्रह छूटने पर भी अन्तरंग परिग्रह रह सकता है किन्तु अन्तरंग परिग्रह अर्थात मूर्छा छूटने पर बाह्य परिग्रह नहीं रह सकता। अतएव जहाँ-जहाँ आचार्यों ने बाह्य परिग्रह के त्याग के उपदेश दिये हैं वहाँ केवल बाह्य परिग्रह नहीं किन्तु उसके साथ अन्तरंग परिग्रह का त्याग भी समझना चाहिए। बाह्य पदार्थों को परिग्रह कहने का एक कारण यह भी है कि वे अन्तरंग मूर्छा के अनुमापक होते हैं। जैसे हिरण का भोजन घास और बिल्ली का भोजन माँस होता है; यद्यपि घास और माँस दोनों पौद्‌गालिक हैं फिर भी घास खाने वाले हिरण को घास से इतना ममत्व नहीं होता जितना बिल्ली को माँस से होता है।

परिग्रह के अनेकान्तः- बाह्य वस्तुयें आत्मा की मूर्छा के निमित्त, आधार अथवा हेतु जो कुछ भी कही जाय; किन्तु वे परिग्रह की जननी नहीं होती। मूर्छा निश्चय से आत्मा के अज्ञानभाव से उत्पन्न होने वाला आत्मा का स्वतन्त्र कृत्य है। अपने में मूर्छा उत्पन्न करने के लिये आत्मा को कोई दूसरा पदार्थ सहयोग नहीं करता। अतएव आत्मा का अपना अज्ञानमूलक उत्पादन होने से निश्चय से मूर्छा आत्मा की ही वस्तु है और उसका कारण-कार्य भी आत्मा ही है। इस अन्तरंग मूर्छा के साथ जिनका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है वे बाह्य पदार्थ परिग्रह संज्ञा को प्राप्त होते हुये भी वास्तव में आत्मा के परिग्रह परिणाम के कर्त्ता तथा कारण नहीं होते। अतएव उन्हें परिग्रह अथवा परिग्रह का कारण अथवा कर्त्ता व्यवहारनय से ही कहा जाता है। जिसका प्रयोजन आत्मा और उन बाह्य पदार्थों के संयोग का परिचय मात्र देना होता है।

इस अनैकान्तिक दृष्टि के बिना यदि कोई सम्पूर्ण बाह्य पदार्थ के परिग्रह का त्याग कर एकान्त निर्जन में भी चला जाय तो "धन, धान्य, स्त्री, पुत्रादि पदार्थ आत्मा के लिये अहितकर-दुखद एवम् रागोत्पादक हैं" ऐसी विपरीत दृष्टि का परिहार न होने से उसको अज्ञान के रूप में अनन्त परिग्रह संचित पड़ा रहता है।

अपरिग्रह के जीवन में आने पर तो सन्त परम मध्यस्थ और वीतरागी होते हैं। किन्तु जो बाह्य परिग्रह को मूर्छा अथवा विकार का कारण मानता हुआ उसे छोड़कर वनवासी साधु बन गया है उसे अब भी आत्मा की मूर्छा के प्रति धन-धान्यादि की कारणता पड़ी रहने से बाह्य निर्दोष पदार्थों के प्रति भयंकर रूप में अनन्त द्वेष छिपा रहता है। अतः कभी भी अपरिग्रह मूलक परम मध्यस्थ समरसी भाव का उसे रसास्वादन नहीं होता, किन्तु व्यक्त पदार्थों के विकल्पों में झूलते रहने के कारण उसकी चित्तवृत्ति निरन्तर ही अशान्त रहती है।

परिग्रह के भेदः-

1. अन्तरंग परिग्रह, 2. बहिरंग परिग्रह

अन्तरंग परिग्रह 14 प्रकार का होता है और बहिरंग 10 प्रकार का।

अन्तरंग परिग्रहः- आत्मा को मलिन करने वाले मिथ्यात्व और क्रोधादि परिणाम जो सब मूर्छा में गर्भित हो जाते हैं अन्तरंग परिग्रह कहलाते हैं। वे इस प्रकार हैं 1. मिथ्यात्व 2. स्त्रीवेद 3. पुरुषवेद 4. नपुसंक वेद 5. हास्य 6. रति 7. अरति 8. शोक 9. भय 10. जुगुप्सा 11. क्रोध 12. मान 13. माया 14. लोभ ।

बहिरंग परिग्रहः- वे बाह्य पदार्थ जो आत्मा के ममत्व अथवा कषायरूप परिणामों के निमित्त होते हैं बाह्य परिग्रह कहलाते हैं। उनके मुख्य दो भेद हैं 1. सचित्त अर्थात स्त्री पुत्रादि । 2. अचित्त अर्थात धन-धान्यादि। बाह्य परिग्रह के उत्तर 10 भेद है- क्षेत्र, वास्तु (मकान) हिरण्य, सुवर्ण, धन (गाय, भैंस, रूपये-पैसे) धान्य (अनाज) दासी, दास, कुप्य (कपड़ा) बर्तन।

परिग्रह प्रकारान्तर से हिंसा ही है; क्योंकि उसमें प्रमत्तयोग है। आत्मा का स्वभाव निष्परिग्रह अर्थात् जगत के सभी पदार्थ और उनके निमित्त से होने वाले रागादि विकारों से निराला है। अतः आत्मा अज्ञान पूर्वक स्वपर का भेद न समझने के कारण अपने से भिन्न पदार्थों में ममता करता है, ममता के फलस्वरूप रागद्वेष या क्रोध, मान, माया, लोभादि कषायें होती हैं और वे कषायें आत्मा के निर्मल निर्विकार स्वभाव का घात करती हैं और यह स्वघात ही हिंसा है; अतः परिग्रह हिंसा का ही एक प्रकार है। जहाँ-जहाँ मूर्छा रूप परिग्रह भाव होता है वहाँ-वहाँ अनिवार्य रूप से आत्म-स्वभाव का घात अर्थात हिंसा होती है। अतएव परिग्रह के द्वारा आत्मा का अहित तो सुनिश्चित रूप में होता ही है। उस परिग्रह की भावना से लोक जीवन में भी अव्यवस्था और अशान्ति उत्पन्न होती हुई देखी जाती है किन्तु यह बात औपचारिक ही है; क्योंकि अपरिग्रह के प्रकरण में भी

अनैकान्तिक दृष्टि अत्यन्त आवश्यक होती है। हम मूर्छा अथवा ममत्व का परिणाम करें और उससे जगत के प्राणी निश्चित रूप में दुख का अनुभव करें ऐसी अनिवार्यता नहीं है और अपरिग्रह की वीतराग भावना को ग्रहण करें और उससे जगत में सुख शांति का प्रसार हो ऐसा नियम नहीं है। अतएव परिग्रह की भावना के द्वारा प्राणी का अपना ही अहित होता है, उसके कारण दूसरों को दुख पहुँचता है, यह बात औपचारिक है; किन्तु निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध के रूप में प्रायः ऐसा देखा जाता है कि लोक में परस्पर यदि सहयोग और सहानुभूति हो तो वह सहानुभूति लौकिक शांति में भी निमित्त हो जाती है। वास्तव में प्राणी के सुख और दुख का आधार व्यवहार से उसके पूर्व संचित कर्म साता-असाता कर्म का उदय और निश्चय से उसका ज्ञान-अज्ञान रूप भाव है। साता का उदय केवल हमारे लौकिक सुख में निमित्त होता है किन्तु ज्ञान का उदय हमें लोकोत्तर निराकुल शांति प्रदान करता है। अतः परिग्रह मूलक आत्मा की अशांति का वारण करने के लिये आत्मा के भीतर पड़े हुये काषायिक विकारों का शोधन ही आवश्यक है। काषायिक विकार निकल जाने पर उनके विषयभूत अथवा निमित्तभूत बाह्य परिग्रह भी छूट जाते हैं। बाह्य पदार्थों को वास्तव में उपचार से परिग्रह संज्ञा है; क्योंकि अनैकान्तिक दृष्टि में निश्चय से उनका आत्मा के साथ कारण कार्य सम्बन्ध नहीं है। अतएव उनके ग्रहण और

छोड़ने की बात भी व्यवहार नय की एक पद्धति है। वस्तुतः बाह्य परिग्रह आत्मा के द्वारा कभी ग्रहण ही नहीं किये जाते अतः छोड़ने का भी प्रश्न नहीं उठता ; किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि बाह्य पदार्थ यदि वास्तव में परिग्रह नहीं हैं तो उनका अनर्गल संचय किया जाय। किन्तु सच तो यह है कि जब आत्मा बाह्य परिग्रह को ग्रहण ही नहीं कर सकता अथवा उनसे सुख भी प्राप्त नहीं कर सकता तो फिर उनके संचय के विकल्प से निवृत होना चाहिए। इस प्रकार उनके प्रति परत्व की दृष्टि उत्पन्न होने में अनायास ही आत्मा की निर्मल भूमि में अपरिग्रह का जन्म होता है और यही बाह्य परिग्रह के परित्याग की पद्धति है। जगत के वे ही पदार्थ उपचार से परिग्रह संज्ञा को प्राप्त होते हैं कि जो आत्मा की ममता और कषाय के निमित्त होते हैं। अर्थात् जिनके सद्भाव में अथवा जिनको लक्ष्य करके आत्मा में मूर्छा पैदा होती है। जो आत्मा की मूर्छा से निमित्त नहीं बनते वे परिग्रह संज्ञा को भी प्राप्त नहीं होते हैं- जैसे वीतरागी पुरुषों को द्रव्य कर्म और नोकर्म (शरीरादि) का ग्रहण तो होता है किन्तु उनके प्रति मूर्छा न होने के कारण वीतरागी पुरुषों को परिग्रही और द्रव्यकर्म-नोकर्म को परिग्रह नहीं कहते।

अपरिग्रह का प्रथम चरणः- जैन दर्शन की यह मान्यता है कि बाह्य परिग्रह का होना अथवा नहीं होना अन्तरंग परिग्रह का माप दंड नहीं है। एक फूस की झोंपड़ी

में रहने वाला, दिनभर मेहनत करके घास काटने वाला किन्तु फिर भी एक बार भूखा सोने वाला जगत का कृपा पात्र एक व्यक्ति भी, जिसके पास बाह्य परिग्रह का संयोग न हो, वह भी उतना ही परिग्रही हो सकता है कि जितना सम्राट।

आज के युग में पूँजीपति और मजदूर की जो समस्याएँ और जो संघर्ष हमारे सामने है उससे यह स्पष्ट है कि एक मजदूर एक पूँजीपति को इसलिये घृणा की दृष्टि से देखता है कि उसके पास पैसा है और उसके पास पैसा नहीं है। यद्यपि संघर्ष केवल तो रोटी और कपड़े के आधार पर शुरू किया जाता है ; किन्तु प्रश्न यह है कि क्या मजदूर पूंजीपति नहीं बनना चाहता? अथवा कभी उसको इस प्रकार का अवसर मिले तो क्या वह स्वयं मजदूर से पूंजीपति नहीं हो जाता है? इसका अर्थ यह है कि केवल रोटी और कपड़े की मांग करने वाला मजदूर अपने भीतर संग्रह की अनन्त वासना या परिग्रह को लिये बैठा है।

अतएव परिग्रह की भयंकर वासना से वासित होने के रूप में एक मजदूर भी उतना ही परिग्रही है जितना एक सम्राट। जैनदर्शन तो यह कहता है कि किसी प्राणी के पास कुछ बाह्य संयोग न होने के कारण हम कभी भी उसे निष्परिग्रही नहीं कह सकते। यहाँ तो यह मान्यता है कि क्षुद्र एकेन्द्रिय प्राणियों में भी आहार-भय-मैथुन और परिग्रह

संज्ञायें भयंकर रूप में पड़ी रहती हैं; इसलिये अपरिग्रह की ओर कदम बढ़ाने के लिए सब कुछ छोड़कर बनवासी हो जाना भी इस दर्शन को इष्ट नहीं है। उसकी पहली शर्त है कि निरपेक्ष और स्वावलम्बी आत्मतत्व से भिन्न जगत का जितना कुछ है उससे ममता तोड़ी जाय। जगत के पदार्थों से अपना स्वामित्व उठा लिया जाय और भूल के कारण जगत को सम्हलाये गये अपने अधिकार हस्तगत कर लिये जायें। यह अपरिग्रह की ओर बढ़ने के लिए प्रथम चरण है। सम्यग्ज्ञान के आलोक में यह बात देखी जाय कि यह जगत कितना स्वतन्त्र है और इस जगत के सारे ही क्रिया-कलाप स्वयं जगत के द्वारा कितनी स्निग्धता से संचालित हो रहे हैं। इस प्रथम भूमिका को पहुँचकर साधक भ्रम के कारण बल पूर्वक अपने शीश पर धारण किया गये सम्पूर्ण जगत के भार को उतार कर फैंक देता है। उसे पहली बार जीवन में स्वावलम्बन का अनुभव होता है। यहाँ आकर वह अनुभव करता है कि एक अणु मात्र भी अपने जीवन के लिये मुझे अपेक्षित नहीं है। जैसे यह सम्पूर्ण जगत के बन्धनों को अस्वीकार करके उन्मुक्त है ; उसी प्रकार इसकी दृष्टि में जगत भी उन्मुक्त है। जीवन में प्रथम बार अपरिग्रह को साकार करने वाला मुक्ति मार्ग का यह प्रथम चरण है जिसे जैनदर्शनकार सम्यग्दर्शन कहते हैं।

अपरिग्रह का द्वितीय चरणः- श्रद्धा की यह अवस्था कि जहाँ सम्पूर्ण जगत से अपना स्वामित्व हटा लिया गया है, प्राप्त हो जाने पर भी साधक में कुछ रागात्मक कमजोरियां शेष रह जाती हैं; क्योंकि साधक उसी को कहते हैं जो अपने साध्य को पहिचानता हो, साध्य के प्रति जिसके चरण आगे बढ़ने लगे हों; किन्तु कुछ अपनी ही भीतरी कमजोरियों के कारण जो अभी साध्य को उपलब्ध नहीं कर पाया हो, वे कमजोरियां राग के अनेक रूपों में विद्यमान रहती हैं और बाहर धन-धान्यादि परिग्रह के रूप में साधक के पास देखे जाते हैं। यद्यपि राग और राग के विषयभूत बाह्य परिग्रह पर साधक का रंच भी स्वत्व अथवा स्वामित्व नहीं है, फिर भी वे होते हैं; किन्तु उनका होना एक बात है और उनको अपना मानना दूसरी बात।

रागात्मक कमजोरी की साधक को कतई उपादेयता नहीं है। अतएव विद्यमान कमजोरी को निरस्त करने के लिये साधक का पुरुषार्थ अविरल अग्रसर रहता है और पुरुषार्थ के प्रतिक्षण वर्धमान होने के फलस्वरूप साधक परिग्रह परिमाण की भूमिका तक आ पहुँचता है। यहाँ आकर पुरुषार्थ का वेग कुछ प्रबल हो जाने के कारण वह कुछ रागात्मक बन्धनों से इन्कार करके जीवन में स्वतन्त्रता का और अधिक आनन्द लेने के लिये अपने काम में आने वाली सभी वस्तुओं को मर्यादित कर लेता है। वह इस बात को

भली प्रकर समझता और अनुभव भी करता है कि नादान जगत जिन भौतिक समुदायों को अथवा संग्रह को आनन्द कहता है वह भयंकर दासता है और उसमें आनन्द की कल्पना ही आनन्द का प्रवंचन और आनन्द के प्रति सबसे बड़ा अन्याय है।

परिग्रह का परिमाण साधक के जीवन में अपूर्व खुशहाली लाता है, दैन्य अथवा दरिद्रता नहीं। परिग्रह का द्रव्यात्म परिमाण होने के साथ भावात्म परिमाण भी होता है और उस परिमाण में जितना त्याग हो चुका होता है उतनी ही आत्मशान्ति उसे प्रति समय वर्तती है। यही स्वरूप स्थिरता स्वरूपाचरण अथवा चारित्र कहलाता है। इसमें बाह्य त्याग का महत्व नहीं है ; किन्तु अपनी पर्याय में से आंशिक राग निकल जाने के कारण उत्पन्न हुई शान्ति का महत्व है। बाह्य त्याग नहीं होता है ऐसा भी नहीं है; किन्तु उसके साथ पूर्व भूमिका की अपेक्षा जीवन में निराकुल तथा स्वाधीन शान्ति की अभिवृद्धि आवश्यक है। उसके बिना बाह्य त्यागरूप शुभाचार की आत्महित के लिये कोई उपयोगिता नहीं है। धारावाहिक अन्तरंग शान्ति के अभाव में बाह्य त्याग तथा मंद कषाय मिथ्या चारित्र संज्ञा को प्राप्त होता है। इस अन्तरंग शान्ति का प्रारम्भ चतुर्थ (गुणस्थान की) भूमिका में शुद्धात्मानूभूति पूर्वक होता है। सम्यग्दर्शन पूर्वक आगे होने वाली सभी दशायें चारित्र के विकास की क्रमिक श्रेणियां हैं।

परिग्रह परिमाण व्रत की परिभाषाः- रत्नकरण्ड श्रावकाचार के आधार पर धन-धान्यादि परिग्रह का परिमाण करके उससे अधिक इच्छा नहीं करना इसे परिग्रह परिमाण व्रत या इच्छा परिमाण व्रत भी कहते हैं।

2. अपनी शक्ति, मार्दव, संयम, शौचादि भावनाओं के द्वारा अन्तरंग परिग्रह तथा उसके साथ बहिरंग परिग्रह का आंशिक त्याग करना परिग्रह परिमाण व्रत कहलाता है।

परिग्रह का परिमाण राग को घटाने के लिये जीवन पर्यन्त के लिये किया जाता है। उस परिमाण में जीवन की आवश्यकताओं का विवेक पूर्वक सही निर्णय करना चाहिए। परिग्रह का परिमाण करने से पहले की अवस्था में आत्मा की भूमिका में आरम्भ परिग्रह सम्बन्धित जो राग वर्तता है परिग्रह का परिमाण करने पर वह राग घटना चाहिए।

जितना परिग्रह परिमाण किया गया है कभी भी उससे अधिक रखने का विकल्प अथवा किये गये परिमाण में असन्तोष अथवा पश्चाताप का भाव भी व्रत में दोष पैदा करता है और परिस्थितिवश कभी किये हुये परिमाण से जीवन यापन में कठिनाई हो तो भी वह निशल्य साधक व्रत को ही अपने जीवन का सर्वस्व मानकर और प्राप्त परिग्रह के भी परित्याग की भावना करता हुआ स्खलित नहीं होता।

परिग्रह परिमाण व्रत की लौकिक तथा लोकोत्तर उपयोगिताः- इस व्रत की लोकोत्तर उपयोगिता यह है कि अपने जीवन में काम में आने वाले विषय मर्यादित हो जाने के कारण अमर्यादित विकल्पों का अभाव होकर अपूर्व आत्म शान्ति का जागरण होता है। सम्यग्दर्शन के काल में जिस स्वावलंबन का जन्म होता है वह यहाँ चारित्र की निर्मल अवस्था के रूप में साकार होकर वर्धमान होता है और व्रत की जीवन के लिये सबसे बड़ी उपयोगिता यही है। जहाँ तक लौकिक जीवन का सम्बन्ध है वह भी इससे परिष्कृत होता जाता है। परिग्रह का परिमाण हो जाने पर अपनी जीवन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये अन्याय अथवा बल प्रयोग का अवकाश नहीं रहता। साधक स्वाभाविक ही राग घट जाने के कारण अपनी आवश्यकता से अधिक नही लेना चाहता। अतएव उसके निमित्त से जगत में कभी अशान्ति नहीं होती। अपने इस व्रत में परम संतोष भाव से निश्चल रहने के कारण उसे लोक दण्ड अथवा राजदण्ड की भी सम्भावना नहीं रहती। वह जितना कुछ जगत से लेता है उसे अपराध मानता है और निरन्तर भीतर ही भीतर उसे छोड़ने के लिये आतुर रहता है। अतः जीवनयापन के वे ढंग जिसमें अपने गन्दे स्वार्थों के प्रेरित होने के कारण लोक जीवन उपेक्षित कर दिया जाता है उसके आचरण में स्थान नहीं पाते।

लौकिक दृष्टि से भी वह एकदम भद्र, निष्पृह और लोकादर्शों का निर्वाह करनेवाला एक असाधारण प्राणी होता है। उसके आचरण में सहज और सहसा ही समाजवाद और साम्यवाद जन्म लेते हैं। मानो परिग्रह का परिमाण करने वाला यह साधक ही सच्चे अर्थ में उन्हें जन्म देता है।

समाजवादी, साम्यवादी व्यवस्था एवं अपरिग्रहवाद-एक तुलनात्मक अध्ययनः- लोक जीवन को व्यवस्थित करने के लिये जिस समाजवाद और साम्यवाद की आवश्यकता का आज अनुभव किया जाता है परिग्रह परिमाण उससे बिलकुल निराली चीज है। समाजवाद और साम्यवाद की व्यवस्था में भले ही ऊपर से ऐसा लगे कि लोक जीवन सुखी हो गया है किन्तु अनुशासन और नियंत्रण के द्वारा बनाई गई व्यवस्था में सुख की आशा एक स्वप्न ही होगा। इन व्यवस्थाओं में व्यक्ति का मन नहीं पलटा जाता है भले ही बाह्य व्यवस्था समान दिखाई दे। व्यक्ति भय के कारण अनुशासन को भंग नहीं करता इसलिये उसके पास जीवन के सीमित उपादान देखे जाते हैं; किन्तु उसकी ईर्ष्या और अभिलाषा अनुशासित और नियंत्रित न होने के कारण वासना की भट्टी भीतर ही भीतर जलती रहती है; फलस्वरूप उसके भीतर राज्य और समाज व्यवस्था के विरूद्ध विद्रोह चलता रहता है और ज्योंहि कभी राजदण्ड निर्बल होता है व्यक्ति के विद्रोह का विस्फोट हो जाता है और साम्यवादी

तथा समाजवादी व्यवस्थायें भंग हो जाती हैं। इन व्यवस्थाओं में व्यक्ति की आवश्यकतायें परिमित दिखाई देते हुए भी वह उनसे निर्ममत्व नहीं हो पाता। इसके विरूद्ध परिग्रह परिमाण अथवा अपरिग्रह की पहली शर्त ही यह है कि आत्मा अपनी सीमा से बाहर स्थित सम्पूर्ण जगत से निर्ममत्व हो। अतः वहाँ किसी प्रकार का नियन्त्रण अथवा अनुशासन अपेक्षित नहीं होता। निर्ममत्व की भूमि में से यह अपरिग्रह का बीज उदित होता है अतः वह मानव मन की एक सहज अकृत्रिम दशा है; इसलिये वहाँ किसी प्रकार का भय और आतंक भी नहीं है। दुर्वासनायें वहाँ समाप्त हो चुकी हैं अतः वहाँ समाज अथवा राजतन्त्र के विरूद्ध किसी विद्रोह की सम्भावना ही नहीं रहती।

समाजवाद तथा साम्यवाद जीवनयापन की आवश्यकताओं को मानव का अधिकार मानकर चलते हैं और व्यक्ति जिसे अपना अधिकार मानता है उसकी प्राप्ति अथवा रक्षा के लिये संघर्ष भी उसके मन में साथ ही विद्यमान रहता है। अधिकारों की भावना में भौतिक जीवन के प्रति तीव्र ममता पड़ी रहती है अतः प्राणी कभी भी निराकुल नहीं हो पाता। इसके विरूद्ध अपरिग्रह को जीवन में साकार करने वाला साधक समग्र विश्व के प्रति निर्ममत्व होकर अपने सम्पूर्ण अधिकारों का समर्पण कर देता है। जीवन यापन के लिये एक निश्चित मर्यादा में जो कुछ वह रखता है उसे भी

अपराध मानता है और प्रतिक्षण उसके विसर्जन के लिये लालायित रहता है।

समाजवादी-साम्यवादी व्यवस्था एवं अपरिग्रह वाद-एक तुलनात्मक अध्ययनः-

1. समाजवादी और साम्यवादी व्यवस्थाएं लौकिक हैं और साथ ही अस्थायी भी। अतः उनका अन्त हो जाता है। जबकि अपरिग्रह की भावना उदित होने के उपरान्त उदित होकर क्रमशः विकासमान होकर मुक्ति के रूप में परिवर्तित हो जाती है।

2. इन व्यवस्थाओं में मानव सदा ही भय और वासनाओं से आक्रान्त रहता है। जबकि अपरिग्रह में उसका पवित्र मानस निर्भय और निःशंक रहता है।

3. समाजवादी और साम्यवादी व्यवस्था का सृष्टा मानव होता है और उनका उपभोक्ता भी केवल मानव समाज ही होता है। वहाँ केवल मानव के सुख साधनों का ही ध्यान रक्खा जाता है। जबकि अपरिग्रह की भावना केवल मानव तक ही सीमित नहीं, पशु-पक्षियों में भी उत्पन्न होती है और वहाँ सभी के अधिकारों का ध्यान रक्खा जाता है।

4. समाजवादी और साम्यवादी व्यवस्थाओं में बाह्य पदार्थो की व्यवस्था का ही एक यत्न होता है कि जो अनधिकृत चेष्टा है। यहाँ बाह्य व्यवस्था के साम्य की तरह मानव मन में साम्य नहीं होता। जबकि अपरिग्रह के जन्म

लेते ही आत्मा में एक सहज साम्य की उत्पत्ति हो जाती है क्योंकि अपरिग्रह का आधार ही अन्तःकरण है। अतः वहां बिना किसी प्रेरणा के मानव मन संतुलित हो जाता है।

5. समाजवादी साम्यवादी व्यवस्थायें आत्मा की सुख शान्ति की कोई गारन्टी नहीं है न इनके पास आत्मा की भीतरी अशान्ति का कोई समाधान ही है। जबकि अपरिग्रह का तो जन्म ही आत्मा की भीतरी शान्ति के साथ होता है और उसका चरम विकास सम्पूर्ण अशान्ति का क्षय कर देता है।

परिग्रह परिमाण की 5 भावनायें:- पांचों इन्द्रियों के मनोज्ञामनोज्ञ विषयों में रागद्वेष नहीं करना।

परिग्रह परिमाण व्रत में यह शर्त है कि जिन पदार्थों का त्याग किया गया है उनके प्रति राग-द्वेष उत्पन्न न हो।

परिग्रह के त्याग की लौकिक पद्धति यह है कि जो पदार्थ त्याज्य हैं उनके प्रति घृणा अथवा द्वेष किया जाता है ; किन्तु यह पद्धति अज्ञानमूलक है। परिग्रह का परिमाण करने वाला साधक सम्यग्दृष्टि पदार्थों के अवगुणों के पुनः-पुनः विचार से प्रेरित होकर परिग्रह का त्याग नहीं करता। क्योंकि इस दशा में पदार्थों के छूट जाने पर भी घृणा और द्वेष से आत्मा उसी प्रकार मलिन रहता है जैसा वह उन पदार्थों को छोड़ने से पूर्व उनके प्रति होने वाले राग से मलिन था। अतः मुक्ति साधक सम्यग्दृष्टि के त्याग की पद्धति यह है कि वह जगत के किसी पदार्थ को अपने लिये अथवा परस्पर एक

दूसरे के लिये इष्ट और अनिष्ट मानता ही नहीं है। अतः उनके प्रति सम्पूर्ण प्रकार से निर्ममत्व होकर अत्यन्त मध्यस्थ दृष्टिवाला हो जाता है और पश्चात रहे सहे राग का भी धीरे-धीरे बहिष्कार करता हुआ राग से सम्बन्धित पदार्थों का भी परित्याग करता जाता है। अतः परिग्रह के परिमाण में व्यक्त पदार्थो के साथ जैसे उसे राग नहीं होता उसी प्रकार द्वेष भी। वरन् उनके प्रति परम मध्यस्थता को धारण करके वह समरसी ज्ञाता हो जाता है।

अतिचारः- 1. अतिवाहन 2. अतिसंग्रह 3. विस्मय 4. लोभ 5. अतिभारवहन। विस्तृत स्वरूप के लिये श्रावकाचार ग्रन्थों का अध्ययन अपेक्षित है।

परिग्रह त्याग महाव्रतः- इस महाव्रत में 14 प्रकार के अंतरंग और 10 प्रकार के बहिरंग सभी प्रकार के परिग्रह का अभाव हो जाता है। महाव्रती साधक संत का मन अत्यन्त पवित्र और जगत से निस्पृह होता है। यह लोकोत्तर मानव होता है कि जिसे लोकाचार और लोक मर्यादाओं के कोई प्रयोजन नहीं रहता। परिग्रह के रूप मे बची हुई देह को भी तप का साधन बनाने के लिये जो कुछ आहार ग्रहण करता है वह भी कठोर अभिग्रह पूर्वक और कठिन विधानों के साथ।

भोजन मिलता है तो भी निष्पृह और नहीं मिलता है तो भी निष्पृह। उसके अभाव में जिसका अंतःकरण कभी विह्वल और जिसकी वीतराग छटा कभी मलिन नहीं होती।

कांच और कंचन में समरसी वृत्ति वाला यह उत्कृष्ट साधक जिसका मन सदा ही वीतराग आनन्द की तरंगों से तरंगित रहता है और निर्जन वन ही जिनका एक मात्र निवास है ; निर्भय और निःशंक मुक्ति की ओर कदम बढ़ाता हुआ अंत में देह से विदेह हो जाता है।

जीवन में अपरिग्रह की उपयोगिताः- परिग्रह के त्याग का भौतिक जीवन के लिये इतना महत्व नहीं है जितना आत्मा की चिरस्थायी शान्ति के लिये। यद्यपि उसके निमित्त से लोक जीवन में भी बाह्य सुख शान्ति का संचार होता है। यह अणुव्रती तथा महाव्रती मानव जगत के प्राणियों के लिये मानों दुःख का निमित्त ही नहीं होता। उसके भीतर परम संतोष भाव प्रवर्तित होता है अतः अपने लिये किसी के अधिकारों का हनन करने की दुर्वृत्ति को वहाँ अवकाश ही नहीं मिलता। उत्तरोत्तर आत्मा पवित्रता, निष्पृहता की श्रेणियों पर आरोहण करता हुआ शुद्धोपयोग को अंगीकार करके रागात्मक विकल्पों का सम्पूर्ण विसर्जन करता हुआ परम शुद्ध हो जाता है और उसके भीतर जिस अतीन्द्रिय और अलौकिक सुख का प्रादुर्भाव होता है उसका वह सदा ही उपभोग किया करता है और अनन्त भविष्य में पुनः कभी भी उसके भीतर रागादि वृत्तियां उत्पन्न होकर उसे मलिन नही बना पाती। इस प्रकार यह अपरिग्रह मुक्ति का एक सीधा सोपान है।

महाकवि बनारसीदास एवं उनका साहित्यिक मूल्यांकन

अध्यात्म की पुनीत सलिला में स्नात महाकवि बनारसीदास हिन्दी जैन साहित्याकाश के दैदीप्यमान चन्द्र हैं, उनका जीवन मनुष्य के चारित्रिक पतन एवं उत्थान की पराकाष्ठा की एक मनोरंजक एवं प्रेरक कहानी है। एक ओर जहाँ उनका जीवन चारित्रिक स्खलन की चरम सीमा तक पहुंचा, वहीं दूसरी ओर उन्होंने अध्यात्म के धवल हिमाचल के शिखर का स्पर्श किया, उनका लोक-जीवन कठिनाइयों से भरा था। बनारसीदास ने अपने जीवन में जो उतार-चढ़ाव, विषमतायें, विपत्तियां एवं आर्थिक संकट देखे, वे मानव जीवन की विरलतायें हैं।

वंश परम्परा एवं पारिवारिक जीवनः- बनारसीदास की वंश परम्परा एवं उनका 55 वर्ष का जीवन चरित स्वयं उनके द्वारास् रचित उनकी विख्यात काव्य कृति 'अर्ध कथानक' में वर्णित है, उनके पूर्वज मूलतः 16वीं शताब्दी के भारत के मध्यदेश के रोहतगपुर नगर के बिहोली गांव के राजवंशी राजपूत थे, वे अनेक पाप कर्म करते थे, उस समय भारत में बाबर और हुमायूं बादशाह का शासन था। एक

बार एक जैन साधु बिहौली गांव में आये, उनके उपदेश से राजपूतों के उस वंश ने समस्त पाप कर्मो का परित्याग कर दिया, उन जैन साधु ने इन क्षत्रियों को णमोकार मन्त्र की माला पहनाई और उनको जैन धर्म मे दीक्षित कर उन्हें 'श्रीमाल' कुल एवं बिहोली गांव के नाम पर 'बिहोलिया' गोत्र प्रदान किया। इसी श्रीमाल वंश की परम्परा में सं. 1608 में श्रावण शुक्ल पंचमी रविवार को नरवर नगर में मूलदास श्रीमाल के घर बनारसीदास के पिता खरगसेन का जन्म हुआ। मूलदास नरवर नगर में मुगल उमराव के मोदी बनकर आये थे। सं. 1613 में मूलदास की मृत्यु हो जाने पर मुगल उमराव ने मुगल शासन पद्धति के अनुसार उनके घर पर मोहर छाप लगाकर उनकी सारी सम्पत्ति छीन ली अतः खरगसेन की माँ अत्यन्त दुखी होकर अपने पुत्र खरगसेन को साथ लेकर खरगसेन के नाना मदनसिंह श्रीमाल चिनालिया जौहरी (खरगसेन के नाना हजमल के बड़े भाई) के यहां गोमती नदी के किनारे स्थित पूर्व देश के प्रसिद्ध नगर जौनपुर आ गई। मदनसिंह उनके साथ मुगल उमराव कृत उपद्रवों की कथा सुनकर बहुत रोये और उन्हें अपनी पुत्री ही मानकर सम्मान सहित अपने यहाँ रख लिया।

नाना मदन सिंह जौहरी के यहाँ ही खरगसेन का पालन-पोषण एवं शिक्षा हुई और मदनसिंह ने 10-12 वर्ष की अल्पायु में ही उन्हें पढ़ा-लिखाकर सर्राफ व्यवसाय एवं

लेन-देन में प्रवीण कर दिया। संवत् 1630 में 22 वर्ष की अवस्था में खरगसेन का विवाह हो गया। संवत् 1635 में खरगसेन के एक पुत्र का जन्म हुआ जो दस दिन बाद ही दिवंगत हो गया।

वह धार्मिक अन्धविश्वासों का युग था। खरगसेन यद्यपि बड़े चतुर पुरुष थे फिर भी परम्परागत अन्धविश्वासों से मुक्त नहीं थे। प्रथम पुत्र की मृत्यु हो जाने पर वे पुनः पुत्र प्राप्ति की अभिलाषा से अपने पूर्वजों के नगर रोहतगपुर सती की जात के लिए गये किन्तु मार्ग में ही चोरों ने सब कुछ लूट लिया। मात्र पति-पत्नी के वस्त्र बचे। बनारसीदास ने अपने अर्ध कथानक में इस देव मूढ़ता का मनोरंजक चित्रण किया है। वे लिखते हैं - 'गये हुते मांगन को पूत, यह फल दीनों सती अऊत'।

सम्वत् 1641 में खरगसेन के नाना मदनसिंह की मृत्यु हो गई। इसके पश्चात् सं. 1643 में माघ शुक्ल एकादशी रविवार के दिन रोहिणी नक्षत्र, वृष के चन्द्रमा और रोहणी के तृतीय चरण में खरगसेन के घर जौनपुर में बनारसीदास का जन्म हुआ। बनारसीदास का जन्म नाम विक्रमाजीत रखा गया। जन्म के 6-7 मास पश्चात् माता-पिता अपने पुत्र विक्रमाजीत को लेकर भगवान पार्श्वनाथ की जात के लिए भगवान पार्श्व की जन्म भूमि वाराणसी गये जहाँ उन्होंने अपने पुत्र के लिए भगवान पार्श्वनाथ की बहुत मनौती की।

वहाँ उस मन्दिर के पुजारी ने अपनी छल-चतुराई से उस बालक का नाम भगवान पार्श्वनाथ की जन्म-भूमि बनारस के नाम पर विक्रमाजीत के स्थान पर बनारसीदास रखवा दिया और विश्वास दिलाया कि वह नाम रखने पर तुम्हारा बालक निरोग एवं चिरंजीवी होगा किन्तु बात सभी कुछ इसके विपरीत हुई।

बनारसीदास जब पांच वर्ष के हुए तो उन्हें भयंकर संग्रहणी रोग हो गया जो एक वर्ष तक चला, जब वे सात वर्ष के हुए तो शीतला (चेचक) की महा कष्टप्रद व्याधि हो गई। आठवें वर्ष में बनारसीदास ने पांडे रूपचन्दजी से चटशाला में विद्याध्ययन प्रारम्भ किया और एक वर्ष में विद्या पढ़कर लेखा आदि सीखने में व्युत्पन्न हो गए। नवें वर्ष सं. 1652 में पिता खरगसेन ने खैराबाद बनारसीदास की सगाई कर दी और सं. 1654 माघ शुक्ला 12 को 11 वर्ष की अवस्था में बनारसीदास का विवाह हो गया, जिस दिन बनारसीदास विवाह कर घर लौटे उसी दिन लोक जीवन की तीन प्रमुख घटनायें जन्म, मरण एवं परण घर में एक साथ घटी। अर्द्ध कथानक में बनारसीदास ने इसका बड़ा मार्मिक चित्रण किया है :-

नानी मरण, सुताजनम, पुत्र वधू आगौन,
तीनों कारज एक दिन भये एक ही भौन।
यह संसार विडंबना, देखि प्रगट दुख खेद,
चतुर चित्त त्यागी भये, मूढ़ न जानहि भेद।

बनारसीदास के पिता खरगसेन जवाहरात का व्यवसाय करते थे, किन्तु मुगल शासन के आतंक एवं निरंकुशता के कारण उन्हें व्यवसाय में बड़े कष्ट उठाने पड़े। एक बार जौनपुर के नवाब किलीचखां ने नगर के सब जौहरियों को पकड़कर एक कोठरी में बन्द कर दिया और उनसे कोई बड़ी वस्तु मांगने लगा। ऐसी कोई बड़ी वस्तु जौहरियों के पास थी नहीं अतः एक दिन किलीचखाँ ने सब जौहरियों को कोठरी से निकाल कर एक कतार में खड़े करके कंटीले कोड़ों से मार-मार कर मृतक समान कर दिया और फिर छोड़ दिया, उसके आतंक से सभी जौहरी जौनपुर छोड़कर अपने परिवार को साथ लेकर जहाँ-तहाँ भाग गए। खरगसेन इस विपत्ति में सपरिवार साहिजादपुर आ गए। इसके बाद प्रयाग, फतेपुर, लछमनपुर आदि अनेक स्थानों पर अपने सुख-दुःख के दिन काटते खरगसेन जौनपुर में शांति होने पर सपरिवार सं. 1657 में जौनपुर वापस लौटे, इस समय बनारसीदास चौदह वर्ष के हो चुके थे, अव वे पं. देवदत्तजी के पास विद्याभ्यास करने लगे, और उन्होंने थोड़े ही समय में दोनों नाममाला, ज्योतिष, अलंकार, लघु कोक एवं चार सौ विभिन्न प्रकार के श्लोक पढ़ लिए। विद्याभ्यास की इस चौदह वर्ष की अवस्था में ही बनारसीदास पर यौवन छा गया और उन्होंने घोर कामासक्त होकर लोकलज्जा एवं कुल की सारी मर्यादायें तोड़ दी, इस दुर्व्यसन की पूर्ति के लिए वे अपने

पिता के माणक-मणियां आदि चुराने लगे और अपनी प्रेमिकाओं के पास पान, मिठाई आदि भेजने लगे, इसी समय श्वेताम्बर मुनि भानुचंद्र का चातुर्मास जौनपुर में हुआ। बनारसीदास अपने पिता के साथ मुनिजी के पास जाने लगे, उनसे बहुत स्नेह हो गया, और बनारसीदास ने उनसे पंचसंधि, अनेक श्लोक, सामायिक, प्रतिक्रमण, छंदकोष, श्रुतबोध आदि पढ़कर कंठस्थ कर लिए, फिर भी बनारसीदास का वह दुर्व्यसन नहीं छूटा और इसी समय चौदह वर्ष की अवस्था में ही बनारसीदास ने काम के उन्माद में एक हजार दोहा-चौपाइयों की घोर श्रृंगारिक कृति 'नवरस' पदावली की रचना कर डाली।

इस संदर्भ में एक विचार अवश्य उत्पन्न होता है कि मुगलों के निरंकुश शासन के कारण उस समय बाल विवाह की प्रथा तो थी ही किन्तु उस युग की यह बात बड़ी विचित्र लगी कि बालकों को कोक शास्त्र भी पढाया जाता था। अनादि से ही जीव मैथुन जैसे मधुर विषमय संज्ञा से पीड़ित है और फिर विधिवत् विद्याध्ययन द्वारा उसकी उस संज्ञा का उद्दीपन करना युग का आश्चर्य ही कहा जायेगा। निश्चित ही कोकशास्त्र के अध्ययन का ही दुष्परिणाम था कि चौदह वर्ष की अल्प आयु में ही बनारसीदास चरित्रहीन हो गए।

बनारसीदास की यह स्थिति 16 वर्ष की अवस्था तक चलती रही, इस दुर्व्यसन के परिणाम स्वरूप वे उपदंश जैसी

अनेक भयंकर व्याधियों से आक्रांत हुए एवं इसी दुर्व्यसन की सुरक्षा के लिए वे अनेक ठग साधुओं के चक्र में भी फंसे। सं. 1659 में सावन में एक साधु ने उन्हें इस तरह बहकाया कि 'यदि तुम एक वर्ष तक मेरे बताये मंत्र का जाप प्रतिदिन पाखाने में बैठकर करोगे तो तुम्हें प्रतिदिन अपने द्वार पर एक दीनार मिलेगी,' बनारसीदास ने वैसा ही किया किन्तु उन्हें एक फूटी कोड़ी भी नहीं मिली। इसी प्रकार एक जोगी ने उन्हें मूर्ख बनाया, उन्हें एक शंखोली (शंख) एवं पूजा की सामग्री देकर कहा कि "यह सदाशिव की मूर्ति है, इसकी नित्य पूजा-जाप करने से मुक्ति की प्राप्ति होती है।" बनारसीदास नित्य स्नान करके वैसा ही करते, भोजन भी बाद में करते, किन्तु सभी कुछ व्यर्थ गया। बनारसीदास ने अपनी इस मूर्खता को अर्ध कथानक में बड़े व्यंग्य से अभिव्यक्त किया है। वे लिखते हैं :-

संख रूप सिव देव, महासंख बानारसी,
दोनों मिले अवेक, साहिब सेवक एक से।

इसी समय सं. 1662 की वर्षा ऋतु में आगरे में सम्राट अकबर की मृत्यु हो गई। बनारसीदास उस समय अपने घर की सीढ़ियों पर बैठे हुए थे। अकबर की मृत्यु का वृत्तांत सुनते ही वे मूर्छित होकर सीड़ियों से नीचे गिर पड़े और सिर फट गया, सारा आंगन रक्त से लाल हो गया। हाय-हाय करते माता-पिता ने उन्हें गोद में उठाया और मां ने कपड़ा जलाकर उनके घाव में भरा।

अकबर की मृत्यु के बाद परम्परानुसार सम्पूर्ण प्रजा भय से व्याकुल हो गई। लोगों ने अपना धन धरती में गाड़ दिया, मोटे वस्त्र पहिन लिये और घरों के किवाड़ बंद कर लिए, जब जहाँगीर गद्दी पर बैठे और उन्होंने चारों ओर निर्भयता के संदेश भेजे तब लोगों को शांति मिली।

एक दिन बनारसीदास ऊपर के कमरे में अकेले बैठे हूए थे, बैठे-बैठे उन्हें विचार आया कि 'जब मैं मुर्छित होकर नीचे गिरा तब भी संखोली ने मेरी कोई सहायता नहीं की' इस विचार के साथ ही संखोली से उनकी आत्मा उठ गई, उसके बाद बनारसीदास की बुद्धि ने करवट बदली।

एक दिन अनायास ही अपनी 'नवरस पदावली' लेकर वे अपने मित्रों के साथ गौमती नदी के बीच पुल पर जाकर बैठ गए और अपने मित्रों को उस पोथी की रचनायें सुनाने लगे, उसी समय उनके मन में सद्विचार की एक कल्लोल उठी कि "जो एक झूठ बोलता है, उसे भी नरक के दुःख देखने पड़ते हैं और मैंने तो अपनी इस रचना में अनगिनत कल्पित झूठ बोले हैं, जिनमें एक भी सत्य नहीं है, तब मेरी क्या दशा होगी 1" यह विचार करते हुए बनारसीदास नदी की ओर देखने लगे और देखते ही देखते नवरस पदावली की पोथी उन्होंने रद्दी की तरह गौमती में डाल दी। सभी मित्र हाय-हाय करने लगे और पोथी के पन्ने नदी में फैलकर बह गए, उसी दिन से बनारसीदास ने काम के उस स्वच्छंद

दुर्व्यसन का परित्याग करके कुल की मर्यादा ग्रहण कर ली और नित्य जिन-दर्शन, सामायिक और प्रतिक्रमण आदि करने लगे।

बनारसीदास एक असफल व्यवसायी माने जाते हैं। 9 वर्ष की अवस्था में कौड़ियां बेचकर उन्होंने व्यापार का आरम्भ किया, और घृत, तेल, कपड़ा, जवाहरात आदि का उन्होंने जौनपुर एवं आगरा तथा अनेक स्थानों पर स्वतन्त्र एवं सांझे में बहुत परिश्रम पूर्वक व्यवसाय किया। किन्तु उन्होंने प्रायः खोया ही खोया और बहुत कम पाया। एक बार वे डाकुओं के गिरोह तक में जा फंसे और बड़ी चतुराई से डाकुओं के सरदार को आशीर्वाद देते हुए वहाँ से निकले, उनके जीवन के लगभग अंतिम बीस वर्ष का व्यावसायिक जीवन आगरे में शांति से बीता।

उनका गार्हस्थ्य जीवन भी कष्टों से घिरा रहा। सचमुच बनारसीदास का जीवन एक ऊबड़-खाबड़ रास्ते की तरह विषमतम उतार-चढावों की एक अद्‌भुत कहानी है। उन्होंने तीन विवाह किए, सात पुत्र एवं दो पुत्रियां हुई किन्तु सबके सब एक के बाद एक पतझड़ के पत्तों की तरह गिर गए। बनारसीदास ने अपने दाम्पत्य के इस अभागे स्थल को अपने अर्द्ध कथानक में वैराग्य का बड़ा भव्य स्वरूप प्रदान किया है। वे लिखते हैं :-

नो बालक हुये, मुये, रहे नारि नर दोय,
ज्यों तरूवर पतझार है, रहे ठूंठ से होई।
तत्वदृष्टि जो देखिये, सत्यारथ की भांति,
ज्यों बाको परिग्रह घटे, त्यों ताको उपसांति।

धार्मिक परिवेश- बनारसीदास मूलतः श्वेताम्बर श्रीमाल कुलोत्पन्न थे। सं. 1662 में 'नवरस पदावली' के गौमती में विसर्जन के बाद उनके जीवन की दिशा बदली और वे दर्शन, पूजन, सामायिक, प्रतिक्रमण आदि श्वेताम्बर कुलाचार में निरत हो गए। उनके जीवन में प्रमुख धार्मिक मोड़ तब आया जब सं. 1680 में आगरे में अध्यात्म रसिक अरथमलजी ढोर का उन्हें स्नेहपूर्ण समागम मिला और अरथमलजी ने उन्हें दिगम्बर आचार्य कुन्दकुन्द के परम अध्यात्म-शास्त्र समयसार पर रचे गये आचार्य अमृतचन्द्र की आत्मख्याति टीका के संस्कृत कलशों (श्लोकों) पर समयसार के मर्मी महा विद्वान पांडे राजमलजी कृत बाल बोधिनी भाषा टीका की एक प्रति लिखकर दी। बनारसीदास बड़ी रुचि में उसे नित्य पढ़ने लगे किन्तु सद्‌गुरु के बिना अध्यात्म का मर्म हाथ नहीं लगा और वे दर्शन पूजनादि समस्त शुभ क्रियाओं को छोड़कर अपने चार मित्रों के साथ स्वच्छंदी हो गए। बनारसीदास की यह दशा देखकर धार्मिक लोग उन्हें 'खोसरामती' (निश्चयाभासी) कहने लगे। अर्ध कथानक में बनारसीदास ने अपनी इस स्वच्छंदता का एकदम खुला एवं मनोरंजक चित्रण किया है। उनकी यह दशा सं. 1692 तक चलती रही।

सं० 1692 में आगरे में अनायास ही अध्यात्म एवं व्यवहार के मर्मज्ञ पं० रूपचंदजी का शुभागमन हुआ और आगरे की अध्यात्म शैली ने उनसे गोम्मटसार का स्वाध्याय सुनाने का अनुरोध किया। विद्वान पं० रूपचंदजी से मुक्ति मार्ग में गुणस्थान (शुद्धि की कक्षा) के अनुसार अंतरंग शुद्धि एवं उसके योग्य बाह्य शुभाचार की सुसंगति सुनकर बनारसीदास की आंखें खुल गई, उनकी स्वच्छदंता एवं संशय मिट गये और जीवन में ज्ञान एवं क्रिया का अपूर्व संतुलन होकर उन्हें शुद्ध चैतन्य की अनुभूति अर्थात् सम्यग्दर्शन प्रगट हो गया। अर्ध कथानक में स्वयं बनारसीदास लिखते हैं:-

तब बनारसी औरे भयो, स्याद्वाद परिनति परिनयो,
अब सम्यक् दरसन उनमान, प्रगट रूप जाने भगवान।

अनेक विद्वानों का यह कथन एकदम निराधार है कि, 'बनारसीदास ने अपने को श्वेताम्बर दिगम्बर कुछ नही लिखा है और मूलतः वे श्वेताम्बर श्रीमाल ही थे।' किन्तु सच्चाई यह है कि दिगम्बर ग्रन्थ समयसार एवं गोम्मटसार को पाकर दिगम्बरत्व पर उनकी अटूट आस्था हो गई थी। बनारसी बिलास की 'अध्यात्म पद पंक्ति' में स्वयं बनारसीदास 'जिन प्रतिमा' का स्वरूप लिखते हैं:-

जिन प्रतिमा जिन सारिखी, कही जिनागम मांहि,
पै जाके दूषण लगे, वंदनीक सो नाहिं।

मेटी मुद्रा अबुद्धि सों, कुमती कियो कुदेव,
विघन अंग जिन बिंब का, तजे समकिती सेव।

इस प्रकार उन्होंने जिन प्रतिमा पर लेप-श्रृंगार आदि का स्पष्ट निषेध किया है, इसी तरह 'बनारसी विलास' की 'साधु वंदना' में वे साधु के 28 मूलगुणों के साथ साधु का स्वरूप नग्न दिगम्बर ही स्वीकार करते हैं:-

नग्न दिगम्बर मुद्राधार, सो मुनिराज जगत सुखकार

बनारसीदास की रचनाओं का संक्षिप्त परिचयः-

बनारसीदास सचमुच नैसर्गिक काव्य प्रतिभा संपन्न महाकवि थे। यद्यपि उन्होंने दो दार्शनिक गद्य प्रबंध भी लिखे जो आज से चार सौ वर्ष पूर्व के हिन्दी गद्य के नमूने माने जाते हैं, फिर भी वे मूलतः कवि ही थे। यद्यपि बनारसीदास हिन्दी काव्य गगन पर उभर कर नहीं आये फिर भी उनकी रचनाओं में उनका महाकवित्व स्वतः ही मुखरित हो रहा है। बनारसीदास ने अपने जीवन में पांच काव्य कृतियों की सृष्टि की:- 1. नवरस पदावली, 2. नाममाला, 3. समयसार नाटक, 4. बनारसी विलास, 5. अर्ध कथानक।

1. नवरस पदावली:-14 वर्ष की अल्पवय में एक हजार दोहा-चौपाइयों में लिखी गई बनारसीदास की नवरसयुक्त श्रृंगार प्रधान यह प्रथम कृति थी जिसका प्रसव सचमुच बनारसीदास के चारित्रिक स्खलन से हुआ और 19 वर्ष की

अवस्था में जब उनके जीवन में सुबुद्धि का उदय हुआ तब आत्मग्लानि में डूबकर सं. 1662 में उन्होंने अगाधश्रम से लिखी गई अपनी इस कृति को अपने ही हाथों गौमती नदी में प्रवाहित कर नष्ट कर दिया।

अनेक विद्वानों का मन्तव्य है कि यदि नवरस पदावली आज उपलब्ध होती तो बनारसीदास को हिन्दी साहित्य में बहुत बड़ा स्थान मिलता। किन्तु सचमुच विद्वानों के ये विचार अभिनंदनीय नहीं है। सचाई तो यह है कि बनारसीदास के नाम पर सम्पूर्ण जैन साहित्य एवं जैन धर्म ही बदनाम होता। जिस कृति से मानव चरित्र का पतन होता हो, वह कृति स्वयं बनारसीदास की दृष्टि में साहित्य की पंक्ति में ही स्थान पाने योग्य नहीं है, बनारसीदास स्वयं ऐसे कवियों को कुकवि कहते हैं। अर्ध कथानक में वे लिखते है-

'ऐसे कुकवि बनारसि भये, मिथ्या ग्रंथ बनाये गये।'

बनारसीदास का युग हिन्दी साहित्य का भक्ति युग था। वे महाकवि तुलसीदास के समकालीन थे, इसी समय तुलसी अपने महाकाव्य 'रामचरित मानस' की रचना कर रहे थे। फिर भी रीतिकाल का श्रृंगारी युग निकट आ रहा था। कवि राजाश्रित होकर राजाओं के उद्दीपन के लिए श्रृंगारिक रचनायें करने लगे थे। अतः सचमुच बनारसीदास द्वारा नवरस पदावली का गौमती में विसर्जन रीतिकाल के श्रृंगारी कवियों को एक बहुत बड़ी चुनौती थी।

2. नाम माला:- महाकवि धनंजय की संस्कृत 'नाम माला' के आधार पर सं. 1670 में 175 दोहों में लिखी गई यह रचना हिन्दी शब्दकोष साहित्य में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। यह धनंजय नाममाला का सीधा अनुवाद नहीं है वरन् इसकी रचना में बनारसीदास काफी मौलिक प्रतीत होते हैं।

3. समयसार नाटक:- विविध 727 छंदों में लिखी गई यह बनारसीदास की सर्वश्रेष्ठ आध्यात्मिक कृति है। हिन्दी जैन साहित्य में इस रचना का सर्वोत्कृष्ट स्थान है। आदरणीय नाथूरामजी प्रेमी के शब्दों में **"समयसार नाटक भाषा साहित्य के अध्यात्म की चरम सीमा है"**।

आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार उस पर आचार्य अमृतचन्द्र की आत्मख्याति टीका के 279 कलश एवं उन पर पांडे राजमलजी की बालबोधिनी गद्य टीका के आधार से सं. 1693 में आध्यात्मरसिक अपने पांच मित्रों के आग्रह से बनारसीदास ने साहित्य के श्रृंगार इस समयसार नाटक की रचना की। आचार्य कुन्दकुन्द का 415 प्राकृत गाथाबद्ध समयसार 9 अधिकारों में विभक्त है किन्तु बनारसीदास का समयसार नाटक 13 द्वारों (अधिकारों) में लिखा गया है। इसके दो अधिकार 'स्याद्वाद द्वार एवं साध्य-साधक द्वार आचार्य अमृतचंद के स्याद्वाद परिशिष्ट के आधार पर काव्य बद्ध हुये हैं एवं अन्त में 'गुणस्थानाधिकार' के रूप में

बनारसीदास ने साधक के जीवन में निश्चय व्यवहार की सुसंगति की सुन्दर योजना की है। इसप्रकार समयसार नाटक साधार होने पर भी बनारसीदास के अगाध अध्यात्म ज्ञान एवं अनूठे काव्य-कौशल के कारण मात्र अनुवाद नहीं, वरन् एक मौलिक ग्रंथ-सा प्रतीत होता है।

4. बनारसी विलासः- सं. 1680 से कवि के जीवन के अन्तिम वर्ष सं. 1700 तक की छोटी-बड़ी विविध प्रकार की 57 रचनाओं का एक महत्त्वपूर्ण संग्रह है, जिसका संकलन आगरा निवासी अध्यात्म स्नेही दीवान जगजीवनरामजी ने कवि के निधन के कुछ ही दिन बाद चैत्र शुक्ला 2 सं. 1700 को किया और उस संकलन का नाम 'बनारसी विलास' रक्खा। बनारसीदास की अन्तिम रचना 'कर्म प्रकृति विधान' फागुन शु. सं. 1700 को पूर्ण हुई थी। संभवतः इस रचना के कुछ ही दिन बाद उनका निधन हो गया। इस संग्रह में उनकी भाषा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण एवं विद्वत्तापूर्ण दो दार्शनिक निबन्ध 'निमित्त उपादान की चिट्ठी' एवं 'परमार्थ वचनिका' भी सम्मिलित हैं- ब्रज भाषा बहुल ये निबंध उस युग के हिन्दी गद्य के अलभ्य नमूने हैं। बनारसी विलास में काव्य की विविध विधाओं के साथ विविध राग-रागनियों में गुंथित अध्यात्म रसाप्लावित 28 पद भी सम्मिलित हैं जिनको यदि भिन्न-भिन्न गिना जाये तो बनारसी बिलास की रचनाओं की संख्या लगभग 80 हो जाती हैं। इन पदों में संगीत की

विविध स्वर लहरियां बनारसीदास को मात्र कवि ही नहीं, वरन् एक कुशल संगीतज्ञ भी घोषित कर रही हैं इसीलिए समयसार नाटक के साथ बनारसीदास के ये पद भी घर-घर में गाए जाते थे। सचमुच बनारसी विलास कवि की दार्शनिक, आध्यात्मिक, धार्मिक एवं नैतिक काव्य क्रीड़ाओं का एक सुरभित उद्यान है जिसमें कवि का सूक्ष्म दार्शनिक चिंतन, विशद बोध, सिंधु-सा हृदय एवं काव्य का अदभुत कौशल स्पष्ट प्रतिबिंबित हो रहा है।

5.अर्ध कथानकः- सं 1643 (जन्म) से सं.1698 तक बनारसीदास का यह 55 वर्ष का आत्म चरित्र है जिसे उन्होंने सं. 1698 में लिखा और 'अर्ध कथानक' की संज्ञा दी। स्वयं बनारसीदास के शब्दों में उस समय मनुष्य की अधिकतम आयु 110 वर्ष मानी जाती थी, अतः अपने 55 वर्ष के इस जीवन चरित्र को उन्होंने 'अर्ध कथानक' कहा। 'आत्म चरित' तो सभी अधूरे अर्थात् अर्धकथानक ही होते हैं क्योंकि कोई भी पुरुष अपने मरण से पूर्व का ही अपना चरित्र लिख सकता है। वैसे यह अलग बात है कि कोई भी आत्म-चरित लेखक अपना चरित्र लिखने के बाद बनारसीदास की तरह दो वर्ष के अल्प समय में ही मरण को प्राप्त हो जाए तो उसका अर्ध कथानक लगभग पूर्ण कथानक ही बन जाता है।

बनारसीदास का मात्र अर्धकथानक ही हिन्दी साहित्य संसार में बहुचर्चित एक ऐसी काव्य कृति है जिसने उन्हें

हिन्दी साहित्य के गौरवमय पद पर प्रतिष्ठित किया है। अपनी शेष कृतियों सें बनारसीदास हिन्दी साहित्य में नहीं पहिचाने जाते। अर्धकथानक हिन्दी साहित्य का प्रथम आत्मचरित्र है, अपनी इस प्रख्यात कृत्ति में बनारसीदास ने अपने दुर्गुणों को निःसंकोच उधेड़कर रख दिया है, जो आत्मचरित्र की सबसे बड़ी विशेषता मानी जाती है। घटनाओं की विचित्रता एवं जीवन के उतार-चढाव, आत्मचरित्र की दूसरी विशेषता है जो पढने वाले का मन उस कृति में रमाये रखती है। आत्मचरित चाहे काव्य हो अथवा गद्य, भाषा की प्रवीणता एवं भावाभिव्यक्ति की क्षमता उसकी अनिवार्य साहित्यिक विशेषता होती है। आत्मचरित्र की इस कसौटी पर अर्ध कथानक पूरी तरह खरा उतरा है, इससे भी बढ़कर बनारसीदास का मस्त फक्कड़पन, उनकी स्पष्टवादिता, विनोदप्रियता एवं लेखन की मनोरंजक शैली ने अर्ध कथानक को विश्व के श्रेष्ठतम आत्मचरित्रों में स्थापित कर दिया है। हिन्दी साहित्य के निष्पक्ष समालोचक एवं विद्वान नाथूरामजी प्रेमी एवं बनारसीदास चतुर्वेदी ने पूरी शोध के उपरांत 'अर्ध कथानक' को हिन्दी का प्रथम एवं सर्वश्रेष्ठ आत्मचरित्र स्वीकार किया है। हिन्दी साहित्य के इन विख्यात विद्वानों ने बनारसीदास के व्यक्तित्व पर मुग्ध होकर अर्धकथानक पर महत्वपूर्ण समालोचनायें लिखी हैं।

आत्मचरित्र की अन्य विशेषताओं के साथ उसकी एक

बहुत बड़ी विशेषता यह भी हो कि वह मात्र लेखक के दुर्गुणों का लेखा-जोखा ही न हो वरन् पतन के बाद वह चरित्र आदर्शोन्मुख भी हो, तभी वह कृति मानव मन की प्रेरक एवं आदर्श होगी, अन्यथा यदि आत्मचरित्र में लेखक के चारित्रिक पतन का फिल्मायन मात्र हुआ हो तो वह जीवन चरित्र तो लिखने योग्य भी नहीं है और वह कृति साहित्य की सीमा में भी प्रविष्ट नहीं हो सकेगी क्योंकि उससे कोई दिशा बोध नहीं होने से लोक चरित्र को पतन के आयाम ही उपलब्ध होंगे। इस दृष्टि से अर्ध कथानक एक आदर्श आत्मचरित्र सिद्ध होता है।

बनारसीदास का साहित्यिक मूल्यांकनः-

किसी भी साहित्यकार के साहित्यिक मूल्यांकन के लिए उसके वैचारिक परिवेश का परिज्ञान अत्यन्त आवश्यक है, अन्यथा उसकी कृतियों को समझ पाना ही संभव नहीं होगा। प्रायः हर चिंतक के चिंतन की एक परम्परा होती है। बनारसीदास एक दार्शनिक चिंतक थे और उनकी चिंतन धारा जैन दर्शन से सम्बद्ध रही है। यद्यपि वे हिन्दी साहित्य के भक्ति युग के कवि थे और महाकवि तुलसीदास के समकालीन थे। तुलसीदास से उनका सस्नेह मिलन भी हुआ था, और तुलसीदास ने अपनी रामायण की एक प्रति भी भेंट की थी और उसके उत्तर में बनारसीदास ने तुलसीदास को एक परम आध्यात्मिक पद 'विराजै रामायण घट मांहि' भी

लिखकर भेंट किया था, फिर भी बनारसीदास का काव्य भक्ति युग के प्रमुख कवि तुलसी, सूर, कबीर, एवं जायसी से बिल्कुल भिन्न धरातल पर प्रतिष्ठित हुआ है। कबीर एवं जायसी हिन्दी साहित्य की निर्गुण काव्यधारा एवं सूर तथा तुलसी सगुण भक्तिधारा के प्रमुख कवि थे। ये दोनों भक्ति धारायें एक ईश्वर की सत्ता में विश्वास करती हैं, और भक्ति को ही मुक्ति का कारण मानती हैं। अतएव इनका समग्र काव्य एकेश्वरवादी भक्तिधारा में ही प्रवाहित हुआ है। सगुण भक्तिधारा एक ही ईश्वर को सर्वव्यापक मानकर उसके विविध साकार रूप भी स्वीकार करती है और उसके विविध रूपों की मूर्तियां स्थापित कर उनके माध्यम से परमात्मा की भक्ति पूजा भी सम्पादित करती है। इसीलिए यह सगुणधारा कहलाती है। सगुण भक्ति की सिध्दि में महाकवि सूर तर्क प्रस्तुत करते हैं कि परमात्मा के रूप, रेखा, गुण, जाति, युक्ति आदि कुछ भी नहीं होने से वह अगम है और आलंबन के बिना चंचल मन स्थिर नहीं हो पाता अतः सूरदास सगुण भगवान की लीला के पद गाते हैं, वे लिखते हैं :-

"रूप, रेख, गुण, जाति, जुगति बिन निरालंब मन चक्रृत धावे,
सब विधि अगम विचारहि तातैं सूर सगुन लीला पद गावे।"

सगुण भक्ति धारा में महाकवि तुलसी के काव्य के आलंबन मर्यादा पुरुषोत्तम राम रहे। वे राम को सर्वव्यापक

ईश्वर का रूप मानकर ही अपने महाकाव्य रामचरित मानस की रचना करते हैं, वे स्वयं लिखते हैं- "सियाराम मय सब जग जाना"; तुलसी से पूर्व सूर भी कृष्ण के रूप में उसी निराकार परमात्मा के मधुर रूप पर मुग्ध होकर उनकी शैशव क्रीड़ाओं से लेकर उनके जीवन के विविध रूपों को अपने काव्य में संजोते हैं। तुलसी की भक्ति दास्यभाव एवं सूर की भक्ति दास्य एवं सख्य भाव को लेकर प्रस्फुटित हुई है। तुलसी जीव को ईश्वर का अंश मानते हैं और कहते हैं :-

'ईसूवर अंस जीव अविनासी, जगत जाल में लेवन फांसी।'

वे मुक्ति के लिए ज्ञान और भक्ति में कोई भेद स्वीकार नहीं करते, वे स्पष्ट लिखते हैं :-

'ज्ञानहिं भगतिहिं नहिं कछु भेदा, उभय हरे भवसागर खेदा।'

इस प्रकार सूर, तुलसी, मीरा आदि की सगुण धारा ज्ञान मार्ग को अगम मानकर भक्ति के माधुर्य में ही अवगाहन करती रही है।

सगुण भक्तिधारा से पूर्व कबीर, दादू, सहजीबाई एवं जायसी आदि हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल की निर्गुण धारा के अनेक संत कवि हुए जिनमें कबीर एवं जायसी प्रमुख थे। यह निर्गुण धारा एक निराकार, सर्व-व्यापक ब्रह्म पर तो विश्वास करती है किन्तु सगुण भक्ति अर्थात् मूर्तिपूजा को पाषाण-पूजा मानकर उसका विरोध करती है। इस संदर्भ में

कबीर लिखते है :-

"दुनियां कैसी बावरी, पाथर पूजन जांहि,
घर की चाकी काहे न पूजे, जाको पीस्यों खाय।"

यह धारा एक अखंड ब्रह्म की अनुभूति में माया को बाधक तत्व मानती है जिसके कारण ब्रह्म के साथ एकत्व नहीं हो पाता। कबीर इस तथ्य को इस प्रकार अभिव्यक्त करते हैं :-

"जल में कुंभ कुंभ में जल है, बाहर भीतर पानी,
फूटा कुंभ जल जलहि समाना, यह तत कहूयों गियानीं।"

निर्गुणधारा प्रेम प्रधान है और ब्रह्म के प्रति अनन्य प्रेम इस धारा का मूल तत्त्व है, कबीर की उस ब्रह्मानुभूति का मुख्य साधन हठयोग है। कबीर का सम्पूर्ण दर्शन एवं उनकी काव्यधारा का रहस्यवाद इसी हठयोग पर अवलंबित है, उनका मानना है कि कुंडलिनी जब साधना के प्रयोगों से सुषुम्ना के सहारे मस्तक के उस स्थान पर पहुंचती है जिसे ब्रह्मरंध्र कहते हैं तो साधक स्तब्ध हो जाता है, और उसके कंठ में एक विशेष प्रकार का रस झरता है जिसे कबीर 'अमृत' कहते हैं। साधक उस रस के स्वाद में तन्मय हो जाता है और इसी को कबीर ब्रह्मानंद या ब्रह्म की अनुभूति कहते हैं।

यद्यपि हठयोग एक कठिन साधना है फिर भी कबीर

उसे सुखद एवं मधुर कहते हैं और उस अनुभूति को प्रणय का परिवेश देकर उसे काव्य में विविध प्रकार की रहस्यमय विधाओं में व्यक्त करते हैं जिसे हिन्दी काव्य में रहस्यवाद कहा जाता है, कबीर ब्रह्म को प्रियतम एवं अपने को प्रियतमा मानते हैं और अपने प्रियतम को घट-घट वासी कहते हैं, वे लिखते हैं:-

'हरि मोर पिउ, मैं राम की बहुरिया।'

तथा जब ब्रह्मानन्द के रूप में उनके कण्ठ में अमृत झरता है तो वे विभोर होकर कहते हैं :-

"दुलहिन भावहु मंगलाचार, मेरे घर आये हो राजाराम भरतार।"

ब्रह्म की इस हठयोग साध्य अनुभूति को कबीर ने अनेक प्रकार की रहस्यवादी उलटवासियों में भी अभिव्यक्त किया है एक उलटवासी में वे लिखते हैं :-

"आकासे मुख ओंधा कुआ, पाताले पनिहारि,
ताका पानी को हंसा पीवे, विरला अर्थ विचारि।"

निर्गुण संतों की इसी काव्य परम्परा में सूफी महाकवि जायसी हुए। जायसी प्रेममार्गी शाखा के प्रमुख कवि थे। वे कबीर से कुछ हटकर चले और उन्होंने ब्रह्म की उपलब्धि की प्रक्रिया में प्रणय की मधुर पद्धति को स्वीकार किया। कबीर की पद्धति प्रेम परक होने पर भी उसमें हठयोग के काठिन्य

की प्रधानता थी। जायसी ब्रह्म को प्रियतमा एवं अपने को प्रियतम मानकर साधना के पथ पर बढ़ते हैं। उनका मानना है कि ब्रह्म को प्रियतमा मानने में प्रेम के उद्रेक एवं परिपाक का असीम अवकाश है और वहां ब्रह्म की उपलब्धि के मार्ग में आने वाली कठिनाइयों को झेलने की पूरी सामर्थ्य भी है। इसी पद्धति पर उन्होंने स्वयं मुसलमान होने पर भी राजा रतनसेन (साधक) और सिंहल द्वीप की रानी पद्मावती (ब्रह्म) की हिन्दू लोक कथा के सहारे एक रहस्यवादी महाकाव्य 'पद्मावत' की रचना की जिसकी भाषा, भाव, माधुर्य एवं संवेदन शील अभिव्यक्ति के कारण पद्मावत के पात्रों के साथ अनायास ही साधारणीकरण हो जाता है और इसीलिये हिन्दी साहित्य में इस कृति का विशिष्ट स्थान है।

किन्तु महाकवि बनारसीदास का चिंतन हिन्दी साहित्य की निर्गुण एवं सगुण भक्ति धारा से एकदम पृथक कोटि का रहा है। वे भक्ति को मुक्ति का कारण नहीं मानते क्योंकि भक्ति में साधक को ईश्वर का अवलम्बन होने से वह वृत्ति स्वयं परतन्त्र है अतः वह मुक्ति का हेतु नहीं हो सकती। साथ ही कबीर की तरह फक्कड़ स्वभावी होने पर भी वे परमात्माओं एवं उनकी मूर्ति की पूजा-भक्ति का विरोध भी नहीं करते क्योंकि वे मानते है कि मूर्ति की पूजा भक्ति एकलव्य की तरह मूर्तिमान् के आदर्श से मूर्तिमान् परमात्मा बनने के लिए की जाती है, मूर्तिमान् परमात्मा की कृपा से

मुक्ति पाने के लिए नहीं अथवा परमात्मा के साथ मिलकर अनन्य हो जाने के लिए भी नहीं।

बनारसीदास, तुलसी एवं कबीर आदि की तरह किसी एक ऐसे परमात्मा की सत्ता में भी विश्वास नहीं करते जो सर्वव्यापी हो, अथवा अवतार धारण करता हो अथवा जो सृष्टि की रचना एवं संहार करता हो, किसी पर कृपा करता हो, अथवा किसी से रुष्ट एवं तुष्ट होता हो एवं जीवों को उनके कर्म का फल देता हो; किन्तु बनारसीदास के परमात्मा अनन्त हैं और वे सभी वीतराग हैं, वे सामान्यजनों की तरह जगत के किसी भी प्रपंच में नहीं पड़ते।

किन्तु बनारसीदास का मानना है कि विश्व में अनादि से ही अनंत जड़ पदार्थ एवं अनंत चेतन आत्मायें विद्यमान हैं और उनका कभी भी नाश नहीं होता। प्रत्येक आत्मा में अनादि से ही परमात्मा बनने की अनंत शक्ति अथवा स्वभाव भरे पड़े हैं किन्तु आत्मा को अपनी वह शक्ति पर में व्यामोह के कारण अनादि से ही विस्मृत है। वहीं आत्मा अपने पूर्व परमात्माओं के व्यामोह रहित वीतराग मार्ग का अनुशीलन करता हुआ अपने ही पौरुष से परमात्मा बन जाता है। अतः परमात्माओं की संतति भी अनादि है, जैसे प्रोफेसर के पक्ष का अनुगमन करता हुआ विनम्र विद्यार्थी अपने ही श्रम से प्रोफेसर बनता रहा है, और बनता रहेगा। पूर्ण वीतराग मुक्त परमात्मा बन जाने पर भक्ति का भाव भी समाप्त हो जाता

है क्योंकि भक्ति का राग भी बंधन है, और वह साधक दशा तक ही रहता है। साध्य अर्थात् परमात्मदशा में उसका अभाव हो जाता है। अपने एक पद में बनारसीदास इसी संदर्भ में लिखते हैं:-

"आप लखै जब आपको, दुविधा पद मेंटै।
सेवक साहिब एक है, तब को किहि भेंटै।।

इसी तरह बनारसीदास महाकवि तुलसीदास की भांति जीव को ईश्वर का अंश स्वीकार नहीं करते वरन् वे उसे सदैव ज्ञान एवं आनन्द जैसे अनंत गुणों से सम्पन्न एक पूर्ण चेतन तत्त्व स्वीकार करते है। समयसार नाटक के अजीव द्वार में वे लिखतेहैं:-

"चेतनवंत अनंत गुण, सहित सुआतम राम।"

वहीं चेतन तत्व अनादि से स्वयं ही अपनी शक्ति के विभ्रम के कारण शरीरादि अचेतन तत्त्वों एवं मोह रागादि अपने भीतरी विकारों के ममत्व एवं अहं में स्वयं ही नलिनी में बद्ध तोते की तरह प्रतिबद्ध है। उसके इस बंधन के लिए बनारसीदास सम्पूर्ण रूप से स्वयं आत्मा को ही उत्तरदायी मानते हैं। सूर, तुलसी एवं कबीर के काव्य में भी हमें बनारसीदास के इस विश्वास का समर्थन मिलता है। तुलसीदास जीव के अज्ञान की इसी स्वतन्त्रता के समर्थन में लिखते हैं:-

'सो माया बस भयहु गुसांई बंध्यो कीर मरकट की नाई।'

इसी की पुष्टि में सूरदासजी कहते हैं :-

'अपुनपो आपुन ही विसर्‌यो,
जैसे श्वान काच मन्दिर में भ्रमिभ्रमि भूंकि पर्‌यो
सूरदास नलिनी को सुवटा कहि कोने जकर्‌यो।'

इस सन्दर्भ में कबीर तो और भी आगे पहुंचे हैं। वे भगवान को भी नहीं छोड़ते और भगवान के विविध रूपों को वे माया (अविद्या) के ही रूप मानते हैं, अपने एक पद में वे लिखते हैं :-

"माया महा ठगिनि हम जानी,
निरगुण फांस लिए कर डोले, बोले मधुरी बानी
केसव के कमला ह्वै बैठी, सिव के भवन भवानी
पंडा के मूरत ह्वै बैठी, कहू के कौड़ी कानी,
कहत कबीर सुनो भाई साधों, यह सब अकथ कहानी।"

इस प्रकार जीव के अज्ञान अथवा माया में सम्पूर्ण रूप से जीव की ही भूल स्वीकार करने पर भी हिन्दी साहित्य की समग्र निर्गुण अथवा सगुणधारा एकेश्वरवादी होने के कारण जीव के जीवन में किसी न किसी रूप में ईश्वर का हस्तक्षेप स्वीकार करती रही है किन्तु इस सम्बन्ध में बनारसीदास का मन्तव्य एकदम भिन्न और मनोवैज्ञानिक है, वे विश्व के जड़, चेतन किसी भी पदार्थ के कार्य में ईश्वर का हस्तक्षेप तो बहुत दूर पदार्थों के अपने-अपने कार्य में पारस्परिक हस्तक्षेप

का भी अत्यन्त निषेध करते हैं। समयसार नाटक के कर्त्ता कर्म द्वार में वे लिखते हैं:-

"जीव चेतना संजुगत, सदापूर्ण सब ठौर।
तातैं चेतनभाव को, कर्त्ता जीव न और।।
तथा-
"पुद्गल परिणामी दरब, सदा परिनवै सोई।
तातैं पुद्गल करम को, कर्त्ता पुद्गल होई।।"

इसी प्रकार बनारसीदास जीव के बंधन एवं मुक्ति में जीव की पूर्ण स्वाधीनता की घोषणा करते हैं। वे लिखते हैं :-

'अहं बुद्धि मिथ्यादसा, धरै सो मिथ्यावंत,
विकल भयो संसार में, करै विलाप अनंत।' (बंधद्वार)
"पर की संगति जे रचे, बंध बढ़ावे सोई,
जो निज सत्ता में मगन, सहज मुक्त सो होई।।" (मोक्षद्वार)

"जो अपने से भिन्न तत्वों के अहं में परिणत है वही मिथ्यादृष्टि है और वह व्याकुल होता हुआ संसार में अनंत विलाप करता है और पर का ममत्व तोड़कर जो निज चैतन्य सत्ता में लीन हो जाता है वह सहज ही मुक्त होकर वीतराग परमात्मा बन जाता है।"

बनारसीदास ने मुक्ति तत्त्व के रूप में जिस वीतराग भाव को दृढ़ता से स्वीकार किया है वह सम्पूर्ण ही सगुण एवं

निर्गुण काव्य धारा में कहीं भी उपलब्ध नहीं होता। यद्यपि ये भक्ति धारायें पाप का निषेध करती हैं किन्तु प्रभु भक्ति अथवा प्रेम के पुण्य भाव की चरम सीमा को ही मुक्ति कहती हैं, बनारसीदास मुक्ति में पाप एवं पुण्य दोनों को बंधन कहकर उनका अत्यन्त निषेध करते हैं। समयसार नाटक के पुण्य-पाप एकत्व द्वार में वे कहते हैं :-

"पाप बंध, पुन्य बंध, दुहू में मुकति नाहि"

आगे फिर वे लिखते हैं।

"एते पर कहे जो कि पाप बुरो, पुण्य भलो,
सो ही महामूढ़ मोख मारग सों चुक्यो है।"

यद्यपि बनारसीदास का विनम्र एवं चतुर भक्त वीतराग परमात्माओं की प्रचुर भक्ति तो करता है क्योंकि उसका मानना है कि मुक्तिमार्ग की रचना अपने पौरुष से भक्ति की विनम्र एवं कोमल भूमि में ही होती है, अभिमान के पाषाणों पर नहीं, किन्तु वह भगवान से उस विनम्र एवं चतुर विद्यार्थी की तरह निरपेक्ष रहता है जो अपने प्रोफेसर का असीम सम्मान करता हुआ भी उससे सफलता नहीं चाहता वरन् सम्पूर्ण रूप से अपने बौद्धिक श्रम पर ही अवलम्बित रहता है। अतएव बनारसीदास भक्ति को बाह्य साधन स्वीकार करते हैं और मुक्ति में भक्ति का अभाव मानते हैं। वे कहते हैं। 'ज्ञान बिना सिव पंथ न सूझे।' (निर्जरा द्वार)

निर्जरा द्वार में वे पुनः स्पष्ट लिखते हैं :-

"लीन भयो विवहार में, उकति न उपजे कोई।
दीन भयो प्रभु पद जपे, मुक्ति कहां ते होई।।"
प्रभु सुमिरो, पूजा पढ़ो, करो विविध विवहार।
मोखसरूपी आतमा, ज्ञान गम्य निरधार।।
बहुविधि क्रिया कलेस सों, सिव पद लहे न कोय।
ज्ञान कला परकास सों, सहज मोख पद होय।।"

आत्मा की निर्विकल्प अनुभूति के विषय में बनारसीदास कहते हैं कि जब निर्मलज्ञान का उदय होता है तो अपना चैतन्य शरीर और रागादि सभी से भिन्न दिखाई देता है। वे लिखते हैं-

"वरनादिक रागादि यह, रूप हमारो नांहि।
एक ब्रह्म नहीं दूसरो, दीसे अनुभव मांहि।।

सचमुच बनारसीदास की यह मुक्ति कला एकदम बुद्धि संगत, तर्क संगत एवं मनोवैज्ञानिक है और हृदय को सहज ही स्वीकृत हो जाती है।

समयसार नाटक के आधार पर बनारसीदास के वैचारिक परिवेश के पर्यालोचन से यह बात तो निर्विवाद है कि उनके साहित्य का भाव पक्ष भक्तिवाद की अपेक्षा गूढ़ प्रतीत होने पर भी अत्यन्त सरल एवं हृदय-ग्राही है। उनकी अनेक रचनाओं का संग्रह 'बनारसी विलास' भी उनके दार्शनिक,

आध्यात्मिक, धार्मिक, नैतिक एवं सामाजिक आदि विविध विषयों पर उनके विशुद्ध सूक्ष्म एवं व्यापक चिंतन का एक अद्‌भुत रसास्वादन है। बनारसीदास के समग्र साहित्य में उनका भाव पक्ष जितना परिपुष्ट है, उनका कला पक्ष भी उतना ही सबल है। काव्य के सभी अपेक्षित गुण उनके साहित्य में समन्वित हैं। भाव गांभीर्य, मधुर एवं प्रसाद युक्त भाषा का स्निग्ध प्रवाह, भावाभिव्यक्ति की अद्‌भुत क्षमता, समृद्ध शब्दकोष, विविध अलंकारों की सहज छटा, सृजनात्मक प्रतिभा, प्रखर कल्पना शक्ति, उर्वरदृष्टान्त शैली, आकर्षक रचना कौशल एवं सिंधु सा उदात्त हृदय आदि विविध विशेषताओं से समलंकृत बनारसीदास का काव्य वास्तव में हिन्दी साहित्य की अक्षयनिधि है।

यद्यपि बनारसीदास महाविद्वान थे किन्तु अपनी आत्मकथा से लेकर गम्भीर आध्यात्मिक तत्त्व भी उन्होंने सरल एवं सुबोध लोक भाषा में लिखा क्योंकि जीवन के मणि-मुक्ताओं से भरा वह तत्व उन्हें जन-जन तक पहुंचाना था। यद्यपि 16वीं, 17वीं शताब्दी में भी अपभ्रंश में बहुत रचनायें लिखी गई किन्तु बनारसीदास की भाषा सरल हिन्दी ही रही। उन्होंने कभी भी अपनी विद्वत्ता का प्रदर्शन नहीं किया क्योंकि लोक भाषा में ही जीवन-तत्त्व लोक जीवन में आत्मसात् हो सकता है।

बनारसीदास काव्य-कला के एक उच्चकोटि के चितेरे

थे। उनका जीवन हिन्दी साहित्य के भक्ति युग के संत कवियों की तरह निश्चित, सुखमय एवं मस्त नहीं था वरन् वे सदा ही विविध पारिवारिक एवं लौकिक कठिनाईयों से आक्रांत रहे, फिर भी उन्होंने उच्चकोटि की काव्य रचना की कि जो कार्य विशिष्ट प्रतिभा एवं असामान्य मानसिक संतुलन से ही सम्भव हो सकता है।

बनारसी विलास की चित्ताकर्षक काव्य वाटिका में बनारसीदास ने अपनी सर्वतोमुखी काव्य प्रतिभा से निर्गुण संतों की तरह शुद्ध चैतन्य को प्रियतम एवं सुमति (अनुभूति) को प्रियतमा मानकर बड़ी मधुर रहस्यवादी काव्य क्रीड़ायें की हैं। बनारसी विलास के अध्यात्म गीत में वे लिखते हैं:-

"मैं विरहिन प्रिय के आधीन, यों तड़फों ज्यों जल बिनमीन।
प्रिय मोरे घट मैं पिय मांहि, तल तरंग ज्यों दुविधा नांहि।।
बाहिर देखूं तो श्रिय दूर, घट देखे घट में भरपूर।
पिय सुख सागर मैं सुख सींव, पिय शिवमंदिर मैं शिवनींव।।
पिय ब्रह्मा मैं सरस्वती नाम, पिय माधव मो कमला नाम।
पिय शंकर मैं देवि भवानि, पिय जिनवर मैं केवल वानि।।
पिय भोगी मैं भुक्ति विशेष, प्रिय जोगी मैं मुद्रा भेष।
जहं प्रिय तहं मैं पिय के संग, ज्यों शशि हरि में ज्योतिअभंग।।"

इसी प्रकार बनारसी विलास की 'पहेली' नामक कविता में बनारसीदास इसी रहस्यवादी पद्धति में सुमति एवं कुमति को ब्रज वनिता के रूपक में प्रस्तुत करते हैं।

"कुमति सुमति दोऊ ब्रज वनिता, दोउ को कंत अवाची।
वह अजान पति मरम न जाने यह भरता सों राची।।"

बनारसी विलास के एक सुन्दर बरवै छंद में बनारसीदास मीरा की शैली में प्रियतम एवं प्रियतमा के तादात्म्य की पराकाष्ठा में सर्व प्रतिबंधों को अनावृत कर देते हैं। वे कहते हैं :-

"बालम तुहुं तन चितवन गागर फूटि।
अंचरागी फहराय, सरम गई छूटि।।
हू तिक रहू जे रजनी घोर।
घर करके उनजाने चहूं दिसि चोर।।
पिउ सुधि आवत वन में पेसिउ पेलि।
छांड़उ राज डगरिया भयउ अकेलि।।"

बनारसीदास विविध भाषाविद् विद्वान थे। उन्होंने पंजाबी भाषा में भी बड़ी सुन्दर आध्यात्मिक रचना की है। बनारसी विलास की 'मोक्ष पैड़ी' में उनकी पंजाबी भाषा की काव्य क्रीड़ा देखने योग्य है। उसकी कुछ पंक्तियों में वे लिखते हैं :-

"इक्क समय रूचिवंतनों, गुरु अक्खै सुनमल्ल।
जो तुझ अन्दर चेतना बहे तुसाड़ी अल्ल।
ए जिन वचन सुहावने सुन चतुर छयल्ला।।
अक्खै रोचक शिक्खनों गुरु दीन दयल्ला।
यह सतगुरुदी देसना, कर आसवदी वाड़ि।।
लब्धी पैड़ी मोखदी, करम कपाट उघाड़ि।"

न केवल दार्शनिक एवं आध्यात्मिक वरन् रूढिग्रस्त लौकिक एवं धार्मिक पदों की भी निष्पक्ष व्याख्या बनारसीदास ने प्रस्तुत की है, बनारसीदास के समय गोरखनाथ के पद एवं गीत भी बहुलता से गाये जाते थे। क्योंकि गोरखनाथ एक नैतिक पुरुष हुए हैं। बनारसी विलास में 'गोरखनाथ के वचन' रचना में बनारसीदास बाह्यडंबर का खुला निषेध करते हुए लिखते हैं :-

"जो घर त्याग कहावे जोगी,घरवासी को कहे जो भोगी।
अन्तर भाव न परखे जोई, गोरख बोले मूरख सोई।।
पढ़ ग्रंथहि जो ज्ञान बखानै, पवन साध परमारथ मानै।
परम तत्व के होंहि न मरमी, कह गोरख सो महा अधर्मी।।
माया जोर कहैं मैं ठाकर, माया गये कहावै चाकर।
माया त्याग होय जो दानी, कह गोरख तीनों अज्ञानी।।
सुनरे बाबा चुनियां मुनियां, उलटवेध सों उलटी दुनियां।
सतगुरु कहै सहज का धंधा, वाद-विवाद करै सो अंधा।।

इसी प्रकार बनारसी विलास की 'चातुर्वर्ण' रचना में जाति गत भेदभाव पर प्रहार करते हुए बनारसीदास चार वर्णों की कर्म प्रधान व्याख्या करते हैं। वे कहते हैं :-

"जो निश्चय मारग गहै, रहै ब्रह्म गुण लीन।
ब्रह्म दृष्टि सुख अनुभवे, सो 'ब्राह्मण' परवीन।।
जो निश्चय गुण जानिके करे शुद्ध व्यवहार।

जीते सेना मोह की, सो 'क्षत्री' भुजमार।
जो जाने व्यवहार नय, दृढ़ व्यवहारी होय।
शुभ करणी सो रमि रहे, 'वैस्य' कहावै सोय।।
जो मिथ्यामत आदरे, राग द्वेष की खान।
बिन विवेक करणी करे, शूद्र वर्ण सो जान।।

इसी प्रकार 'वैद्य आदि के भेद' रचना में मुसलमान का स्वरूप भी हृदयग्राही है :-

जो मन मूसे आपनो, साहिब के रुख होय।
ज्ञान मुसल्ला गहि टिकै, मुसलमान है सोय।।

सचमुच सामाजिक एवं राष्ट्रीय एकता का जयघोष करने वाली बनारसी विलास की ये रचनायें न केवल साहित्य वरन् राष्ट्र की भी चिर स्थायी सम्पत्ति के रूप में सम्मानित होती रहेंगी। आज से चार सौ वर्ष पूर्व छूतछात एवं ऊंच-नीच की भावना वाले युग की इन रचनाओं में यह स्पष्ट सुनाई दे रहा है कि जैन दर्शन का न केवल दार्शनिक एवं आध्यात्मिक वरन् सामाजिक चिंतन भी कितना निष्पक्ष, उदार, सविवेक एवं व्यापक है। बनारसीदास का अर्ध कथानक भी उनके व्यक्तित्व की ऐसी ही अनेक विलक्षणताओं से समृद्ध एक अनूठी साहित्यिक रचना है।

अर्ध कथानक एवं बनारसीदास का बहुआयामी व्यक्तित्वः-

आत्मचरित की सभी विशेषताओं से संयुक्त हिन्दी की प्रथम एवं श्रेष्ठ आत्मकथा होने के साथ अर्धकथानक के अनगिन ऐसे अनेक असामान्य परिवेश हैं जो हर आत्म चरित में सुलभ नहीं होते और जिनमें बनारसीदास का बहुमुखी व्यक्तित्व स्वतः ही मुखर हो रहा है।

अर्ध कथानक के संबंध में एक प्रश्न स्वाभाविक ही उत्पन्न होता है कि सं. 1698 में इस ग्रन्थ को लिखने से पूर्व अपने चैतन्य की अनुभूतिपूर्वक बनारसीदास अध्यात्म की पराकाष्ठा पर पहुंच चुके थे और वही उनके चिंतन का प्रमुख केन्द्र बन गया था। फिर भी बनारसीदास को अपना आत्म चरित लिखने की बात क्यों सूझी? समयसार नाटक जैसा महागम्भीर एवं महामंगलमय ग्रन्थ लिख चुकने के बाद कोई व्यक्ति अपना चरित्र लिखने का विकल्प सोच सकता है, यह बात मन को आसानी से स्वीकृत नहीं होती।

किन्तु सच्चाई यह है कि बनारसीदास का व्यक्तित्व ही निराला था। वे यद्यपि पूर्ण आध्यात्मिक पुरुष थे किन्तु उनकी पैनी प्रज्ञा एवं मानसरोवर से मानस में भाषा, साहित्य, समाज एवं देश के इतिहास के प्रति भी पर्याप्त स्थान खाली था, और उनके उदारचित्त में अवस्थित ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य की यह आतुरता अर्धकथानक को मूर्त्तरूप देने में एक महत्वपूर्ण पृष्ठभूमि रही है।

बनारसीदास जानते थे कि आप बीती घटनाओं से

सम्बद्ध वे जो कुछ भी लिखेंगे वह भविष्य का असंदिग्ध एवं प्रामाणिक इतिहास बन जायेगा, और सचमुच हुआ भी ऐसा ही है, उन्होंने आत्म चरित के बहाने हिन्दी भाषा, साहित्य, समाज एवं देश के इतिहास को जो प्रामाणिक एवं मूल्यवान तथ्य प्रदान किए वे अन्यत्र उपलब्ध नहीं है।

अर्ध कथानक का प्रारम्भ करते ही हिन्दी भाषा के इतिहास के प्रति उनकी सजगता के दर्शन होते हैं। वे अर्ध कथानक की भाषा का नाम लिखना नहीं भूलते और उसे 'मध्यदेश की बोली' कहते हैं। वे लिखते हैं:-

'मध्य देस की बोली बोलि, गर्भित बात कहौं हिय खोलि।'

साथ ही वे यह भी प्रतिज्ञा करते हैं कि 'मैं अपने भीतर की बात हृदय खोलकर कहूँगा', और पूरे अर्ध कथानक में आत्म चरित की सबसे बड़ी विशेषता के रूप में उन्होंने इस प्रतिज्ञा का निर्वाह किया है, उन्होंने सभी कुछ उन्मुक्त भाव से लिखा है। यदि वे किसी अनुरोध से किसी घटना की अभिव्यक्ति में संकोच करते तो न केवल वह घटना वरन् उससे सम्बद्ध अन्य घटनाओं से उपलब्ध महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक सामग्री से आज हम वन्चित रह जाते।

बनारसीदास ने अर्ध कथानक की आप बीती एवं आंखों देखी घटनाओं के माध्यम से हमें 17वीं शताब्दी के भारतीय सामाजिक जीवन, राजनीति एवं मुगल समाज के जीवन्त

चित्र प्रदान किए हैं। उस युग में मुगल शासन की निरंकुशता एवं राजनैतिक अस्थिरता से प्रजा सदा भयभीत रहती थी। चोर एवं डाकुओं के कारण आवागमन एवं व्यावसायिक कठिनाइयों से लोग बहुत दुःखी थे। लोक जीवन जंत्र, मंत्र, तंत्र, देवी-देवताओं के अंध विश्वास, आडम्बर एवं रूढ़ियों से जकड़ा हुआ था। ब्राह्मण एवं भाटों के अतिरिक्त वणिक पुत्रों का अधिक पढ़ना-पढ़ाना व्यर्थ समझा जाता था। बनारसीदास कहते हैं :-

"बहुत पढ़े बामन और भाट, वणिक पुत्र तो बैठे हाट।
बहुत पढ़े सो मांगे भीख, मानहु पूत बड़े की सीख।।"

अर्ध कथानक में बनारसीदास ने जौनपुर में रहने वाले शूद्रों के छत्तीस भेदों के नाम भी गिनाये हैं जिन्हें 'छत्तीस पौन' कहते है। आज 36 नामों की तालिका कहीं उपलब्ध नहीं होती। उन्होंने अपने जीवन में अकबर, जहांगीर एवं शाहजहां तीन मुगल बादशाहों का शासन देखा, मुगल शासन एवं जीवन की प्रमुख घटनाओं के संवत्, तिथियां एवं दिनों तक का उल्लेख करके बनारसीदास ने अर्ध कथानक की प्रामाणिकता की पूरी गारण्टी दी है। आप बीती होने के कारण अर्ध कथानक में बिना श्रम के ही एक शिलालेख की तरह असंदिग्ध तथ्य उपलब्ध हो जाते हैं और यह उपलब्धि इतिहास का प्राण होती है। अन्यथा इतिहासकारों

को तथ्य की शोध में जो श्रम एवं कठिनाई होती है उसे वे ही जानते है और फिर भी सच्चे इतिहास नहीं बन जाते। समाज एवं देश के प्रति अपने उत्तरदायित्व का इतना गहरा अनुभव करने वाला बनारसीदास का यह व्यक्तित्व सचमुच बरबस ही हमारे मन को मोह लेता है।

'अर्ध कथानक' में बनारसीदास के व्यक्तित्व के और भी अनेक प्रांजल परिवेश समाहित हैं। वह मात्र एक आत्म-चरित ही नहीं, वरन् विषमतम परिस्थितियों, घटनाचक्रों एवं अन्धविश्वासों से घिरे लोक-जीवन के लिए एक स्थायी आलोक स्तंभ भी है। उन्होंने लोक-जीवन में परिव्याप्त अन्ध विश्वास एवं आडम्बर तथा उनकी विफलता पर करारे प्रहार किये हैं। उनके पिता खरगसेन प्रथम पुत्र के निधन के बाद जब पुनः पुत्र प्राप्ति के लिए सं. 1637 में सपरिवार अपने नगर रोहतगपुर सती की जात को गये, तब मार्ग में चोरों ने सब कुछ लूट लिया। उस पर व्यंग करते हुये बनारसीदास लिखते हैं :-

"गये हुते मांगन को पूत, यहु फल दीनी सती अऊत।
प्रगट रूप देखे सब फोक, तऊ न समुझे मूरख लोग।।"

इसी प्रकार सं. 1662 में अकबर की मृत्यु का वृतांत सुनते ही जब वे मुर्छित होकर सीढ़ियों से गिर पड़े और सिर फट गया, तब वे शिव के परम भक्त थे। ठीक होने पर कुछ

दिन बाद जब उन्हें विचार आया तो उन्होंने मन ही मन कहा :-

'जब मैं गिर्‌यो पर्‌यो मुरझाय तब शिव कछू न करीसहाय।'

और इस घटना से सारे अंध विश्वासों का विसर्जन होकर उनका जीवन ही बदल गया।

इसी तरह अपनी सभी 9 सन्तानों के वियोग से उत्पन्न दुःख की प्रतिक्रिया में, 'ज्यों जाको परिग्रह घटे त्यों ताको उपसांति' तथा 'जैसा बोवै तैसा लुने,' जैसे सूत्र एवं सिद्धान्तों से भरा अर्ध कथानक एक भव्य उपदेश रत्नाकर सा लगता है जिसमें विषमताओं के बीच समता की अनुभूति के लिये त्रैकालिक समाधान प्रस्तुत किये गए हैं।

अर्ध कथानक में बनारसीदास का व्यक्तित्व उस समय गगन को छूने लगता है जब हम उन्हें हिन्दू एवं मुसलमान में एकत्व का दर्शन करते पाते हैं। सं. 1662 में अकबर की मृत्यु का समाचार सुनते ही वे मूर्छित होकर नीचे गिर पड़े यह तो एक व्यक्तिगत घटना भी हो सकती है किन्तु मुगलों के अत्याचारों के समय भी उन्होंने सांप्रदायिक स्तर पर कभी मुसलमानों का विरोध नहीं किया। उनकी इस राष्ट्रीय चेतना एवं मानवतावादी क्रांति के सशक्त स्वर हमें उनकी बनारसी विलास की रचना 'एक रूप हिन्दू तुरक' में स्पष्ट सुनाई देते हैं। इस रचना में उनकी अध्यात्मनिष्ठ, समाजवादी एवं

साम्यवादी क्रांति पराकाष्ठा पर पहुंच गई है। वे लिखते है कि जैसे 'शोभा' एवं 'जेब' पर्यायवाची शब्द हैं उसी प्रकार हिन्दू और मुसलमान पर्यायवाची हैं, जो उन्हें रंग-बिरंगी चाम से देखते हैं, उन्हें उनमें दुविधा अर्थात् भेद लगता है किन्तु मेरी आंखों से देखने पर तो दोनों के भीतर समान 'आत्माराम' के ही दर्शन होते हैं। वे लिखते हैं :-

'तिनको दुविधा जे लखें, रंग-बिरंगी चाम
मेरे नैनन देखिए, घट-घट अन्तर राम'

राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने हिन्दू-मुसलमानों की एकता के लिए अपना जीवन समर्पित कर दिया किन्तु किसे पता है कि गांधीजी से 350 वर्ष पहिले भी एक ऐसे गांधी विद्यमान थे जो एक ही इन्सान की दो पर्याय हिन्दू-मुसलमान में अलगाव अनुभव करने से उत्पन्न सामाजिक एवं राष्ट्रीय संघर्षों को समाप्त कर समग्र मानवता को एक ही धरातल पर खड़ा देखना चाहते थे। निश्चित ही अर्ध कथानक में बनारसीदास का यह व्यक्तित्व मात्र एक आत्मचरित लेखक के रूप में ही नहीं वरन् एक आदर्श लोक दृष्टा एवं लोकसृष्टा के रूप में मुखरित हुआ है।

इस प्रकार समग्र ही दृष्टि से बनारसीदास के सम्पूर्ण साहित्य का आलोड़न करने पर वे स्वतः ही कबीर, जायसी, सूर एवं तुलसीदास जैसे महाकवियों की कक्षा में स्थापित हो

जाते हैं। जहां इन महाकवियों ने एकेश्वरवादी कर्त्ता का दर्शन एवं भक्ति का मुक्तिमार्ग हिन्दी साहित्य को दिया, वहीं बनारसीदास ने एकेश्वरवादी कर्त्तादर्शन से भिन्न अकर्त्ता दर्शन एवं ज्ञान का मनोज्ञ मुक्तिमार्ग हिन्दी साहित्य को प्रदान किया।

किन्तु बनारसीदास के विपुल साहित्य में से मात्र अर्ध कथानक ही हिन्दी का प्रथम आत्मचरित होने से हिन्दी साहित्य में चर्चित हुआ। सचमुच यह हिन्दी साहित्य का दुर्भाग्य ही कहा जायेगा कि राधा एवं कृष्ण पर सामान्य से सामान्य गेय पद लिखनेवाले भक्त कवि, एवं घोर श्रृंगारी काव्य की रचना करने वाले विद्यापति, ठाकुर, रसखान एवं बिहारी जैसे कवियों को तो हिन्दी साहित्य में उच्चकोटि का स्थान दिया गया। यहां तक कि भक्तिशिरोमणि सूर भी श्रृंगार के दोष से मुक्त नहीं रह सके और इन्होंने भी नारी की शरीर रचना पर 'अद्‌भुत एक अनुपम बाग' जैसी श्रृंगारी रचना लिख डाली किन्तु बनारसीदास एवं उन जैसे लोकचरित्र के उन्नायक अनेक महाकवियों को मात्र जैन धार्मिक एवं साम्प्रदायिक मानकर हिन्दी काव्य-गगन से सर्वथा उपेक्षित रक्खा गया।

यह एक शुभ संयोग ही लगता है कि आज के निष्पक्ष समालोचक एवं इतिहासकार इस भूल का अनुभव करने लगे हैं। इस सम्बन्ध में हिन्दी साहित्य के निष्पक्ष इतिहासकार

माननीय श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने ग्रन्थ 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' में बड़ी मार्मिक मीमांसा की है। वे लिखते हैं, 'इधर जैन अपभ्रंश चरित काव्यों की जो विपुल सामग्री उपलब्ध हुई है वह सिर्फ धार्मिक सम्प्रदाय की मुहर लगाने मात्र से अलग कर दी जाने योग्य नहीं है। स्वयंभू, चतुर्मुख, पुष्पदन्त एवं धनपाल जैसे कवि केवल जैन होने के कारण ही काव्यक्षेत्र से बाहर नहीं चले जाते। धार्मिक साहित्य होने मात्र से कोई रचना साहित्यिक कोटि से अलग नहीं की जा सकती। यदि ऐसा समझा जाने लगे तो तुलसीदास का रामचरित मानस भी साहित्य के क्षेत्र में अविवेच्य हो जायेगा और जायसी का पद्‌मावत भी साहित्य की सीमा के भीतर नहीं घुस सकेगा।'

सचमुच प्रायः समग्र ही जैन साहित्य की रचना का परिवेश धार्मिक रहा है। सही स्थिति तो यह है कि धर्म को साहित्य से अलग किया ही नहीं जा सकता क्योंकि उससे अलग हो जाने पर साहित्य के पास बच ही क्या जायेगा? और धर्म शून्य साहित्य से लोक निर्माण की क्या आशा की जा सकेगी।

जैन साहित्य में अर्ध कथानक के रूप में मात्र हिन्दी का प्रथम आत्मचरित ही नहीं रचा गया वरन् 8वीं शताब्दी में 'हिन्दी का आदि काव्य' भी जैन साहित्य में ही रचा गया। जिसके रचयिता महाकवि 'स्वयंभू' जैन ही थे। महाविद्वान

राहुलसांकृत्यायन और माननीय श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी ने पूरी शोध के बाद स्वयंभू को हिन्दी का आदि कवि स्वीकार किया है। जैन साहित्य की यह एक गरिमा है जिसे कोई हिन्दी लेखक भुला नहीं सकता। स्वयंभू ने हरिवंश पुराण एवं रामायण को देशीभाषा (पुरानी हिन्दी) में रचकर अपना नाम ही अमर नहीं किया वरन् हिन्दी जैन साहित्य का भरपूर गौरव बढ़ाया है। महाविद्वान राहुलसांकृत्यायन तो स्वयंभू के सम्बन्ध में लिखते हैं- 'स्वयंभू कविराज कहे गये हैं किन्तु इतने से स्वयंभू की महत्ता को नहीं समझा जा सकता। मैं समझता हूँ कि ८वीं शताब्दी से लेकर 20वीं शताब्दी तक की तेरह शताब्दियों में जितने कवियों ने अपनी अमर कृतियों से हिन्दी कविता साहित्य को पूरा किया है उनमें स्वयंभू सबसे बड़े कवि हैं। मैं ऐसा लिखने की हिम्मत नहीं करता यदि हिन्दी के कुछ ही जीवित चोटी के कवियों ने स्वयंभू रामायण के उद्धरणों को सुनकर यही राय प्रकट नहीं की होती।'

सचमुच महाकवि स्वयंभू का हृदय जिनेन्द्रभक्ति से ओतप्रोत है। वे अत्यन्त सरल भी हैं। जब वे अपना 'अरिट्ठणेमिचरिउ' (हरिवंश-पुराण) लिखने बैठते है तो बड़े भोलेपन से कहते हैं - कि क्या करूं, हरिवंश महार्णव को कैसे तिरूंगा? हरिवंशपुराण के प्रारम्भ में ही वे अपनी पुरानी हिन्दी की सीधी-सादी भाषा में कहते है:-

'चितवइसयंभू काइ करम्मि, हरिवंश महण्णउ के वरिम्म
गुरुवयण-तरंडउलद्धुणवि, जम्महोविणजोइउ कोवि कवि।'

'स्वयंभू विचार करते हैं कि क्या करूं? हरिवंश महासागर को कैसे तिरूंगा? गुरु के वचनों की नौका से ही पार जाऊंगा क्योंकि उसके बिना तो कोई भी कवि नहीं जा सकता।'

स्वयंभू जैसे महाकवियों की श्रृंखला में उत्पन्न महाकवि बनारसीदास भी साहित्य की कसौटी पर सर्वांग परीक्षित होकर पूरी तरह खरे उतरे हैं। निस्संदेह उनका समग्र साहित्य लोक मांगल्य के उच्चतम धरातल पर प्रतिष्ठित हुआ है, क्योंकि वह लोकजीवन की संरचना के बहुमूल्य तत्त्वों से भरा है। उनके अर्द्ध कथानक से मात्र हिन्दी जैन साहित्य का नहीं वरन् लोक साहित्य में हिन्दी का मस्तक ऊंचा हुआ है।

सचमुच यदि बनारसीदास जैसे महाकवि एवं महामानव हिन्दी साहित्य को उन्मुक्त भाव से स्वीकृत हो जाते तो हिन्दी साहित्य का कोष तो असाधारण रूप से समृद्ध होता ही किन्तु उसे कवि जायसी, सूर एवं तुलसी के भक्तिमार्ग से विलक्षण जो अनूठे सिद्धान्त एवं विशुद्ध ज्ञान साध्य मुक्तिमार्ग का जो अनुपम तत्त्व मिलता उससे हिन्दी साहित्य में एक ऐसा वैज्ञानिक एवं अभूतपूर्व अध्याय जुड़ता जिससे हिन्दी साहित्य आज तक वंचित रहा है और वह हिन्दी साहित्य की एक महान उपलब्धि होती।

आज के निष्पक्ष एवं महामना साहित्यकारों के चरणों में मेरी यह वेदना ससम्मान समर्पित है।

एक महान व्यक्तित्व आचार्यकल्प पण्डित टोडरमल

पण्डित प्रवर टोडरमल हिन्दी जैन जगत के एक अद्वितीय विद्वान हैं। हिन्दी जैन जगत में उनकी समता का दूसरा विद्वान नहीं हुआ। उनके पूर्व एवं पश्चात् हिन्दी-जैन-जगत में अनेक गद्य-पद्यमय मौलिक रचनाओं की सृष्टि हुई है किन्तु वे सब मिलकर भी पण्डित टोडरमल के असाधारण महत्व को प्रभावित नहीं कर सकीं। अपने समय के विद्वद्वर्ग में पण्डित टोडरमल सर्वोच्च एवं बेजोड़ हैं। उनकी प्रसिद्ध मौलिक रचना श्री मोक्षमार्गप्रकाशक में उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा की अजस्त्रधारा प्रवाहित हुई है। मोक्षमार्ग के गूढ़ एवं शुष्क विषय को इतनी सुन्दरता से उठाया है कि हृदय उसमें डूबता ही चलता है। कहीं भी अस्वाभाविकता से हृदय ऊबता नहीं है। सम्पूर्ण ही मोक्षमार्गप्रकाशक में एक ऐसा औपन्यासिक प्रभाव है कि आरम्भ करने के उपरान्त छोड़ने को जी नहीं चाहता। दर्शन, साहित्य, तर्क, न्याय, व्याकरण, काव्य, छन्द, अलंकार, संस्कृत, गणित तथा धर्म सम्बन्धी उनका ज्ञान असामान्य था। मोक्षमार्गप्रकाशक यद्यपि मुक्ति-मार्ग का प्रतिपादक एक धर्म ग्रन्थ है किन्तु उसमें भाव एवं भाषा का अद्भुत समन्वय हुआ है। ढुंढारी जैसी साधारण भाषा में विषय की

गहनता तथा भावों के भार को ऐसी कुशलता से सम्भाला गया है कि आश्चर्य उत्पन्न होता है। भाव एवं भाषा इस तरह सटकर चले हैं कि उनका वियोग कहीं देखने को नहीं मिलता। दोनों में कहीं शैथिल्य भी नहीं है। मोक्षमार्गप्रकाशक की एक सबसे बड़ी विशेषता उसकी सुघड़ एवं सुव्यवस्थित शैली ही है। ऐसी रचना शैली हिन्दी जैन जगत में अन्यत्र अनुपलब्ध है। इस शैली के कारण पं० टोडरमल का व्यक्तित्व हिन्दी जैन जगत के शत-शत विद्वानों से भी ऊँचा हो गया है। उनकी प्रतिभा के असंख्य चमत्कार उनकी शैली में ही साकार हुए हैं। साधारण से साधारण बात की सिद्धि के लिए उन्होंने हृदयग्राही तर्क एवं उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। पद-पद पर मस्तिष्क उनकी बुद्धि की पैनाई तथा अनुभूति की गहराई का लोहा मानता है।

समग्र मोक्षमार्गप्रकाशक में धार्मिक अन्धविश्वास के लिए कहीं भी अवकाश नहीं है। वह मुक्ति का बुद्धि-सम्मत स्वरूप प्रस्तुत करता है। एक धर्म-निरपेक्ष बौद्धिक व्यक्ति और विशेष रूप से आज के भौतिकवाद तथा विज्ञान प्रभावित व्यक्तियों के लिये मोक्षमार्ग-प्रकाशक धर्म का जो त्रिकालाबाधित स्वरूप प्रस्तुत करता है, उससे जगत की कोई विद्वत्ता इंकार नहीं कर सकती। वास्तव में मोक्षमार्गप्रकाशक धर्म की एक साकार परिभाषा एवं मुक्ति का मूर्तमान् पथ है। उसका तर्क-पाटव उसके लेखक के प्रति स्पर्धा उत्पन्न करता है। ऐसा लगता है कि उसका प्रणेता कोई बड़ा भारी

अभिभाषक अथवा बैरिस्टर होना चाहिये। विशुद्ध अंतःकरण से सहकृत होने के कारण इस तर्क-पाटव में लोकरंजन नहीं वरन लोक-मांगल्य की पुनीत प्रेरणायें विद्यमान हैं।

पण्डित टोडरमल का अध्ययन बड़ा विशाल था। जैन धर्म के चारों अनुयोगों के साथ उन्हे षट् दर्शन का भी अच्छा ज्ञान था। न्याय, व्याकरण, तर्क आदि के अतिरिक्त बड़े भारी गणितज्ञ थे। गोम्मटसार जैसे कठिन ग्रन्थ की टीका में उसके अंक-संदृष्टि प्रकरण में उनकी प्रखर गणितज्ञता के दर्शन होते हैं। अंक संदृष्टि स्थल में बड़े भारी गणितज्ञ से लगते हैं। गोम्मटसार का अंक संदृष्टि प्रसंग जैनाचार्यों के विशद् विज्ञान की घोषणा करता है। आज के गणित के सूत्रों की अपेक्षा जैनाचार्यों के वे सूत्र गणित के कठिन से कठिन प्रश्नों के हल के लिये सरल तथा अल्प समय सापेक्ष हैं। मोक्षमार्गप्रकाशक की तरह गोम्मटसार की टीका भी पण्डित टोडरमल के छोटे से जीवन का एक बड़ा भारी कार्य है। उनके उपरान्त यह महान कार्य अधूरा ही रहता। उनके अनन्त उपकारों से उपकृत आज का यह युग पण्डित टोडरमल जैसे महापुरुष को पाकर धन्य हो गया है। आधुनिक युग के समस्त ज्ञान-दीप उसी के आलोक से आलोकित हैं।

इन विशेषताओं के साथ स्वर्ण में सौरभ के योग की तरह उनकी एक सबसे बड़ी विशेषता है विद्वत्ता के साथ उनकी अन्तर्दृष्टि तथा उनका सरल, सात्विक, विशुद्ध जीवन।

अन्तर्दृष्टि से अनुशासित, विशुद्ध पारिमार्जित जीवन में साहित्य का जो सर्जन होता है उसी में लोक मांगल्य तथा लोककल्याण का अनुसन्धान होता है। पण्डित बनारसीदास जैसे महाविद्वान को अपने प्रारम्भिक जीवन में यह अन्तर्दृष्टि उपलब्ध नहीं थी। अतः इसके अभाव में उन्होंने जिस साहित्य की सृष्टि की उसे कालान्तर में प्रबुद्ध अवस्था में उन्हें स्वयं अपने ही हाथों यमुना की तरंग में तर्पण करना पड़ा। अतः पण्डित टोडरमल के पवित्र मानस से समुद्भूत मोक्षमार्गप्रकाशक विश्व का उत्कृष्ट लोककल्याणकारी साहित्य तथा अज्ञान-तिमिर में खोए हुए संसारी के लिये प्रशस्त का प्रकाश स्तम्भ (सर्चलाइट) है। उसका प्रत्येक वाक्य मुक्ति-पथ का माइल स्टोन है जिसका अनुशीलन निश्चय ही मुक्ति-धाम पहुँचा देता है। शारदा का यह पुत्र साम्प्रदायिक चक्र-व्यूह में गृहस्थाश्रम के प्रारम्भिक वर्षों में ही अपने भौतिक प्राण विसर्जित कर चला गया और उसके अभाव में वैधव्यग्रस्त यह जगत मोक्षमार्गप्रकाशक जैसी अनमोल निधि के अखण्ड स्वरूप का दर्शन नहीं कर सका। अपनी परिपूर्णता में इस ग्रन्थ का क्या स्वरूप होता यह केवल कल्पना और पश्चाताप का ही विषय रह गया है। फिर भी मोक्षमार्गप्रकाशक जिस अपूर्ण स्वरूप में हमें उपलव्ध है, वह हमारे मुक्ति-पथ-प्रदर्शन में पूर्ण और पर्याप्त है।

जीवन के विकास के लिए मुक्ति की प्राथमिक भूमिका में अत्यन्त प्रयोजनभूत निश्चय एवं व्यवहार और आगम

तथा अध्यात्म के अनवधि विवाद का मोक्षमार्गप्रकाशक जो हृदयग्राही समाधान उपस्थित करता है वह स्तुत्य है। निश्चय और व्यवहार, निमित्त तथा उपादान का विवाद कोई इसी युग अर्थात् युग-विशेष की वस्तु हो अथवा वह कोई द्वेष अथवा आश्चर्य का विषय हो यह एक भ्रम है। आत्मा का अज्ञान अनादि है अतः यह पक्ष भी अनादि है। आत्मा जब अज्ञान दशा से करवट लेकर ज्ञान संप्राप्ति के लिये कटिवद्ध होता है तब उसके भीतर अज्ञान तथा ज्ञान का अन्तर्द्वन्द्व जन्म लेता है और इसी को निश्चय और व्यवहार तथा निमित्त- उपादान का विवाद कहते हैं। निश्चय और व्यवहार अथवा निमित्त और उपादान का विवाद वस्तुतः कोई दो व्यक्तियों अथवा दो दलों का विवाद नहीं है वरन् आत्मा की अन्तः भूमिका में वह तो सत्य और असत्य का संघर्ष है जिसमें विजय अन्त में सत्य की होती है। कोई अज्ञानी ज्ञानी का विरोध करता है यह कोई नवीन घटना नहीं है। हमारे अन्तस्तल में अज्ञान अनादि से ज्ञान का विरोध करता रहा है- यही हमारे जीवन की एकमात्र समस्या हो और इसी का समाधान हमारी जीवनचर्या हो। पण्डित टोडरमलजी के समय मे भी यह विवाद चरम सीमा पर था और अन्त में यही उनके भौतिक अन्त का भी निमित्त बना, किन्तु इसमें उनकी क्या हानि हुई? भीतर तो ज्ञान अज्ञान पर विजय पा चुका था अतः भौतिक पराजय में भी विजयश्री उनके चरण चूम रही थी। उदय की प्रतिकूलता में भले ही उनका यश

अधिक प्रसार न पा सका हो किन्तु निश्चित ही पण्डित टोडरमल का व्यक्तित्व सागर से भी गहरा तथा मेरू से भी महान है और मोक्षमार्गप्रकाशक के रूप में लोक कल्याण का जो अमर साधन उन्होंने युग को दिया है उस ऋण से युग कभी उऋण नहीं हो सकेगा।

सर्वतोमुखी प्रतिभा, निष्पक्ष आलोचन, स्पष्टवादिता, अद्‌भुत साहस, विशद ज्ञान-कोष, अपराजित अंतर्बल और आगम तुला-सम्मत निर्भय निःशंक वाणी-सब पण्डित टोडरमल के असाधारण व्यक्तित्व में एक ही साथ समन्वित हैं। विचित्र बुद्धि एवं मान्यता वाले लोग-यथा धार्मिक अन्धविश्वास से जिनकी विचार शक्ति स्तब्ध हो गई है, जो पंथ के मोह से आक्रांत हैं, जो कर्मकाण्ड के मिथ्याभिनिवेश में धर्म का भार ढोते हैं, वैराग्य के वियोग में जिनका ज्ञान शुष्क हो गया है, या जो एकदम धर्म निरपेक्ष एवं नास्तिक हैं- सभी के लिए मोक्षमार्गप्रकाशक एक सजीव समाधान है। सभी को वहाँ अपने अपने योग्य प्रचुर सामग्री मिलेगी।

संस्कृत और प्राकृत के ग्रन्थों की दुरूहता और हमारी मतिमंदता के कारण वीतरागी सन्त और उनकी पावन वाणी के प्रति जो हमारी आस्था उठ चली थी, मोक्षमार्गप्रकाशक ने उस आस्था का पुनः संस्कार किया है। आज के नास्तिक बुद्धिवादी युवक को अपनी बुभुक्षित बुद्धि के लिए मोक्षमार्गप्रकाशक में प्रचुर खाद्य उपलब्ध होगा। मोक्षमार्गप्रकाशक

के तर्क और उनका समाधान देखकर वह उसके प्रणेता के चरणों की धूलि में अपना माथा धूसरित करके गर्व का अनुभव करेगा। यदि हिन्दी भाषा में ऐसा सरल एवं सतर्क ग्रन्थ हमें उपलब्ध नहीं होता तो नयचक्र से निष्पन्न आगम की गुत्थियों को हम सुलझा पाते यह कहना कठिन है। समस्त द्वादशांग के सार और हिन्दी साहित्य की गौरव निधि मोक्षमार्गप्रकाशक ने न केवल हिन्दी जैन साहित्य की काया पुष्ट एवं अभिवृद्ध की है वरन् उसका मस्तक भी ऊँचा उठाया है। अध्यात्मरसप्लावित पं० टोडरमल के निश्छल मानस का योग पाकर मोक्षमार्गप्रकाशक जैसी हिन्दी पुस्तक आज मंगलमय मुक्ति देवता के स्थान पर प्रतिष्ठित हो गई है। धर्म के निर्मल नीर से प्रक्षालित धवल-धवल मानस से प्रेरित पण्डित टोडरमल की लेखनी से जो कुछ प्रसूत हुआ है उसका प्रत्येक वर्ण मुक्ति का मंगलमय सूत्र है। विश्व-साहित्य की गरिमा मोक्षमार्गप्रकाशक के गर्भ में कितने अनमोल रत्न सिमटे पड़े हैं, यह गणनातीत है। निश्चित ही उसका प्रणेता लोक-मांगल्य का करुण अधिष्ठाता एक महापुरुष है और उसका मस्तक 'आचार्य कल्प' संज्ञा का गौरवमय मुकुट धारण करने योग्य है।

धन्य धन्य ओ पुरुष पुरातन!

मोक्षमार्गप्रकाशक : एक अध्ययन

आचार्य-कल्प पण्डितप्रवर टोडरमलजी का मोक्षमार्गप्रकाशक हिन्दी जैन-गद्य-साहित्याकाश का दैदीप्यमानचन्द्र है। भाव, भाषा और शैली की अपनी निराली विशेषताओं से समन्वित यह ग्रन्थ वास्तव में हिन्दी साहित्य की एक अनुपम निधि है। मोक्षमार्ग के प्रकाशन जैसे जगत के सबसे भारी उत्तरदायित्व को लेकर इसका प्रणयन हुआ और इस उद्देश्य का इसमें जो सर्वांग निर्वाह हुआ है वह वास्तव में स्तुत्य है। अनवधि अज्ञान-तमावृत्त अंतःचक्षुओं के घन-आवरण को ध्वस्त कर ध्रुव ज्ञानालोक का अनायास उद्घाटन कर देने वाला मोक्षमार्गप्रकाशक निश्चय ही सत्-साहित्य का श्रृंगार है जो विश्व के एक सर्व महान् प्रयोजन और जगत की एक कठिनतम समस्या का सरलतम समाधान प्रस्तुत करता है। जागतिक दुःख और उनके कारणों की बुद्धिगम्य सम्यक्‌विवेचना देकर शाश्वत सुख का मार्ग खोल देने वाली यह अमर साहित्यिक कृति सभी दृष्टि से अतोल और अमोल है। मोक्षमार्गप्रकाशक का प्रणेता निःसंदेह लोक-मांगल्य का पवित्र अधिष्ठाता है जो अज्ञान का रूप धर कर सम्पूर्ण विश्व में छाये हुए अमंगल का विघटन कर लोक में निराकुल शांति की पुनीत प्रतिष्ठा चाहता है और

लोक में इससे महान् किसी इतर कार्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती। इस अर्थ में पण्डित टोडरमल एक महान् लोकदृष्टा और एक महान् लोक-स्रष्टा भी है। भ्रांत लोकजीवन को शाश्वत सत्य की पुनीत दिशा देने का गुरुतर भार अपने शीश पर लेकर मोक्षमार्गप्रकाशक जैसी लघुसी कृति के माध्यम से इसे जिस कौशल से निभाया गया है वह आश्चर्योत्पादक है।

मोक्षमार्गप्रकाशक का प्रणेता एक धार्मिक विद्वान ही हो ऐसी बात नहीं है, वरन् वह एक सुलझा हुआ सुधारक भी है। व्यक्ति तथा समाज की पतन-प्रणालियों, रुढ़ियों एवं मूढ़ताओं का वह कट्टर शत्रु है जिसके संकेत मोक्षमार्गप्रकाशक मे यत्र-तत्र विकीर्ण हैं। धार्मिक अंधविश्वास उसे पसंद ही नही है। तत्व की तुला पर जो हल्का सिद्ध हो जाता है वह उसे कभी मान्य नहीं है और वह किसी भी सत्य-गवेषी को मान्य नहीं हो सकता। सागर के तट से वह भीख नहीं मांगता वरन् उसकी गहराइयों में जाकर मोती निकालता है। और पण्डित टोडरमलजी की यही विशेषतायें अंत में उनके बलिदान का कारण भी बनी, जो इस बात का प्रतीक है कि तत्कालीन भारतीय समाज सांप्रदायिकता का हलाहल पीकर उन्मत्त हो चुका था और निश्चय ही पण्डित टोडरमलजी जैसे महापुरुष का बलिदान समुज्ज्वल भारतीय संस्कृति के मस्तक पर एक ऐसा कलंक है जिसका विनाश सांप्रदायिकता के विनाश के साथ ही संभव है, अन्यथा नहीं।

मोक्षमार्गप्रकाशक की भाषा :-

पण्डित टोडरमलजी प्राकृत और संस्कृत भाषा के भी बहुत बड़े विद्वान् थे और वे संस्कृत में काव्य रचना भी करते थे। इसके साथ न्याय, व्याकरण, काव्य, छंद, अलंकार आदि का भी उनको अच्छा ज्ञान था। फिर भी मोक्षमार्गप्रकाशक की रचना सरल हिन्दी (ढूँढारी) में करके उन्होने लोक की एक बड़ी भारी आवश्यकता का सम्मान किया है। यद्यपि ढूँढारी एक सीधी-सादी भाषा है किन्तु पं० टोडरमलजी के सबल मस्तिष्क का सहचार पाकर वह चमत्कृत हो उठी है। और उसमें सतर्क अध्यात्म के गंभीर भावों के भार को संभालने की अनूठी क्षमता उत्पन्न हो गई है। भाषा सुबोध, सुकोमल तथा सुमधुर है और संसार के प्रचंड ताप से तप्त प्राणी को मुक्ति के शीतल-सलिल का सिंचन-सी देती प्रतीत होती है। मोक्षमार्गप्रकाशक की वाक्य रचना भी ऐसी नपी-तुली है कि उसमें शब्दों की हानि-वृद्धि अथवा परिवर्तन संभव ही नहीं लगता। संस्कृत और प्राकृत के कठिन भाषा-विधानों में प्रतिबद्ध तथा आधुनिक मानव के लिये अगम्य-सा अध्यात्म लोकभाषा में उन्मुक्त होकर मोक्षमार्गप्रकाशक के बहाने सत्य के दर्शन हेतु मानों मानव मात्र का आह्वान कर रहा है।

शैली:- मोक्षमार्गप्रकाशक की विषय प्रतिपादन शैली अनूठी है और लेखक का सम्पूर्ण व्यक्तित्व इसमें उभर आया है। ढूंढारी जैसी सीधी-सादी भाषा जिसमें किसी गंभीर विषय

के प्रतिपादन के लिये पूरा शब्द कोष भी उपलब्ध नहीं हो सकता और उसके साथ अध्यात्म जैसा सूक्ष्म और गंभीर विषय, भाषा और विषय के इस विरोध का पं० टोडरमलजी की शैली में इस प्रकार समन्वय हुआ है कि समूचे ग्रन्थ में कहीं भी भाषा विषय से पीछे नहीं रही है।

मोक्षमार्गप्रकाशक की वाक्य रचना तथा विषय प्रतिपादन शैली बड़े ही संक्षिप्त हैं और पण्डित टोडरमलजी की यह एक बडी भारी विशेषता है कि विषय प्रतिपादन और वाक्य रचना के संकोच में भी कोई विषय अस्पष्ट नहीं रहा है और कोई विषय छूटा भी नही है। व्यर्थ का विस्तार तो उसमें है ही नहीं। लेखक विषय का यथोचित् विवेचन करता हुआ आगे बढ़ने के लिए सर्वत्र ही आतुर रहा है। जहाँ किसी विषय का विस्तार भी हुआ है वहाँ उत्तरोत्तर उसमें नवीनता भी आती गई है और वह विस्तार विषय के सांगोपांग विवेचन की प्रेरणा से ही हुआ है। जिस विषय को उन्होने छुआ है उसमें क्यों का प्रश्न-वाचक समाप्त हो गया है। शैली ऐसी अद्भुत है कि एक अपरिचित विषय भी सहज ही हृदयंगम हो जाता है और कोई समाधान ही शेष नहीं रहता।

अध्यात्म जैसे गूढ़ विषय का विवेचन होने पर भी समग्र मोक्षमार्गप्रकाशक की शैली में एक औपन्यासिक छटा है। पढ़ते-पढ़ते जी अघाता नहीं और आगे बढ़ने की उत्सुकता शांत होती ही नहीं है और मोक्षमार्गप्रकाशक के पाठक की

उत्सुकता तो इस ग्रन्थ की अपूर्णता के कारण सदा के लिए अमर बन गई है।

मोक्षमार्गप्रकाशक की शैली की एक अन्य बड़ी विशेषता उसका तर्क-पाटव तथा उसका तर्क-बाहुल्य है। उसकी तर्क-वाटिका की बहुरंगी छटा दर्शनीय है। तर्क-स्थलों में पं० टोडरमलजी की प्रतिभा किसी बड़े भारी तर्क शास्त्री को चुनौती सी देने लगती है। उनका मस्तिष्क तर्क ढूंढने में जितना निपुण है उसके हृदयग्राही समाधान में भी वह उतना ही कुशल है। साथ ही तर्क का आगमन कहीं भी लोक-रंजन अथवा अपनी विद्वत्ता या प्रतिभा का चमत्कार प्रदर्शित करके किसी पर अपना बौद्धिक प्रभुत्व स्थापित करने के लिये बल पूर्वक नहीं हुआ है, किन्तु विषय के प्रतिपादन क्रम में सहज ही उसका उदय हुआ है और मोक्षमार्ग के गूढ़ विषय को सुगम बनाकर आत्मसात् कर देने की लोक हितकारी भावना उसमें सर्वत्र ही आविर्भूत रही है। उनके तर्को में आग्रह नहीं है। सिद्धान्त के उत्तुंग मेरू के समक्ष उनके तर्क सजल-मेघ के समान बरस पडते हैं। पं० टोडरमलजी तर्क शास्त्र के विशेषज्ञ विद्वान नहीं किन्तु, उनके तर्क मानव मन की सहज संभावनाएं हैं। अपने तर्क की सिद्धि सर्वत्र ही पण्डित टोडरमलजी उदाहरणों के द्वारा करते हैं। उनकी प्रतिभा में से उदहारण इस प्रकार फूट निकलते हैं जैसे किसी सुमन कलिका के उद्घाटन पर पराग एवं सौरभ फूट निकलते हैं।

मोक्षमार्गप्रकाशक में सर्वत्र ही विषय को हृदयंगम करने में उदाहरणों का योग बड़ा ही अनमोल रहा है। लोक-कल्याण प्रेरित उनके तर्क और उदाहरणों की नैसर्गिकता पर मंत्र-मुग्ध सा-मन इनके प्रति बरबस ही श्रद्धावनत होकर उनके प्रतिपादित तत्व आत्मसात् करने के लिए आतुर हो उठता है।

मोक्षमार्ग के प्रकाशन तुल्य एक गुरुत्तर उत्तरदायित्व लेकर चलने वाली किसी मौलिक सैद्धान्तिक कृति की एक यह भी विशेषता होनी चाहिए कि उसका प्रत्येक तथ्य युक्ति तथा आगम-सम्मत हो अन्यथा उसके प्रणयन से लोक के भ्रांत होने जैसे भारी अनर्थों की संभावनाएं रहती हैं। मोक्षमार्गप्रकाशक में पण्डित टोडरमलजी ने अपनी शैली में सर्वत्र ही इस नीति का अनुगमन किया है। और जहाँ अपने कथनों की सिद्धि में उन्होने युक्ति का अवलंबन लिया है वहाँ साथ ही आर्ष आचार्यों के मूल उद्धरणों को आगम-प्रमाण-स्वरूप प्रस्तुत करके उस कथन की पुष्टि की है जिससे संदेह की सम्पूर्ण संभावना समूल निरस्त हो गई है।

भावः- ग्रन्थ के नाम से ही जैसा स्पष्ट है मोक्षमार्गप्रकाशक आद्योपांत मोक्षमार्ग का ही विज्ञापन करता है। मुक्ति ही उसका विषय है अतः इस ग्रन्थ में पं० टोडरमलजी की समस्त भावाभिव्यक्ति इसी विषय का अनुशीलन करती रही है। मुक्ति का प्रतिपक्षी संसार तथा उसके अंतरंग और बहिरंग कारण तथा संसार का प्रतिपक्षी मोक्ष एवं उसके

अन्तरंग और बहिरंग साधनों की इतनी सुन्दर सांगोपांग विवेचना हुई है कि हृदय मुग्ध हो जाता है। पण्डित टोडरमलजी ने जिस विषय को उठाया है उसकी खाक छान डाली है। संसार और मुक्ति से सम्बन्धित कोई बात उन्होने उठा नहीं रक्खी है। मोक्षमार्गप्रकाशक के शंका-समाधान स्थलों को देखकर तो ऐसा प्रतीत होता है कि इसका लेखक कोई बड़ा भारी मनोवैज्ञानिक होना चाहिये। किसी विषय के सम्बन्ध में मन में जितनी शंकाओं का उत्थान सम्भव हो सकता है, एक एक करके अपने सुन्दर क्रम में उन सभी का अवतरण मोक्षमार्गप्रकाशक में हुआ है। और फिर उनका समाधान तो यह भ्रम उत्पन्न कर देता है कि क्या इस युग में किसी ऐसे मेधावी पुरुष का अस्तित्व भी संभव हो सकता है? प्रज्ञा के कोष से इस पुरुष ने जिस विषय को छुआ है उसका वे कोना कोना झांक आये हैं। इन स्थलों में किसी जटिल मस्तिष्क का स्नायु मण्डल भी शिथिल हो जाता है और वह अपनी संचित शेमुषी को नम्रीभूत होकर लेखक के चरणों में विकीर्ण कर देता है।

समग्र ही मोक्षमार्गप्रकाशक में पं० टोडरमलजी को सत्य का आग्रह रहा है। सत्य की स्वीकृति में जहाँ वे सुमन से कोमल हैं, असत्य के परिहार में वहाँ वे शैल से कठोर हैं। उनके सम्पूर्ण तत्वज्ञान का आधार वीतराग विज्ञान है क्योंकि मुक्ति सौख्य का एक मात्र वही साधन हो सकता है। अतः

वीतरागता का विरोध उन्हें कभी सह्य नहीं रहा है। उनके सभी कथन तर्क, आगम और अनुभव से प्रमाणित हैं अतः वहाँ असत्य के परिग्रह अथवा मनोकल्पना के लिये कोई अवकाश नहीं है। सत्य ही मानों उनका जीवन-दर्शन है अतः उसके प्रतिपादन में असत्य का परिहार स्वयमेव ही हो गया है। असत्य के समर्थक को सत्य कड़वा लगता ही है अतः सत्य से उसे स्वाभाविक ही द्वेष हो जाता है। किन्तु पण्डित टोडरमलजी का सत्याग्रही स्वाभिमान असत्य के समक्ष कभी झुकता ही नहीं है। उनमें न लोकैषणा है और न लोकरंजन, क्योंकि इनमें सत्य कभी भी सुरक्षित नहीं रह सकता, जीवन में इनकी अपेक्षा सदा ही असत्य की ओर अग्रसर करती है।

पण्डितं० टोडरमलजी एक बड़े भारी अध्यात्म-दृष्टा हैं। अध्यात्म उनके जीवन में साकार हो चला था। अतः अध्यात्म के सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों के विवेचन की उनमें महती क्षमता परिलक्षित होती है। मोक्षमार्गप्रकाशक में उनका अध्यात्म उनकी स्पर्द्धास्पद विद्वत्ता का सहचार पाकर चमत्कृत हो उठा है।

यद्यपि मोक्षमार्गप्रकाशक एक आध्यात्मिक ग्रन्थ है किन्तु उसमें यत्र तत्र तत्कालीन समाज की अवस्था के भी अनेक संकेत बिखरे पड़े हैं। देश में सांप्रदायिकता निरंकुश हो चुकी थी। जिसका संकेत दूसरे अधिकार में क्रोध के वर्णन में इस प्रकार उपलब्ध होता है-वहाँ क्रोध का उदय होते पदार्थनिविषै

अनिष्टपनौ वा ताका बुरा होना चाहै, कोऊ मन्दिरादि अचेतन पदार्थ बुरा लागै ताकूं फोरना तोरना इत्यादि करि वाका बुरा चाहै"। उस समय जैन समाज भट्टारकीय प्रवृत्तियों से प्रभावित हो चुका था, जैन साहित्य तथा जैनाचार में उनके कारण विकृति तथा शैथिल्य का समावेश हो चुका था जिसका वर्णन पण्डित टोडरमलजी ने इस प्रकार किया है - (प्रथम अध्याय) "इस निकृष्ट काल विषै उत्कृष्ट जैनमत का घटना तो भया..........ऐसे तीव्र कषायी जैनाभास इहां इस निकृष्ट काल विषै हो हैं।" (8 वां अधिकार) इस काल विषै कोई जैनमत विषै भी कषायी भये हैं सों तिनने कारण पाय अन्यथा कथन लिख्या है।" देश, समाज तथा धर्म विरोधी प्रवृत्तियों का पण्डित टोडरमलजी ने अपने जीवन में सदा ही विरोध किया है और इस कार्य में उन्होने कभी अपने पराये का भेद नहीं रखा है। इस प्रकार असत्य के समक्ष सदा ही सत्य का उद्घाटन करके वे लोक का मार्गदर्शन करते रहे हैं।

विषयः- मोक्षमार्गप्रकाशक का विषय महा मंगलमय है। यद्यपि वह अपूर्ण ही रह गया है क्योंकि उसका प्रणेता अल्पवय में ही चिर-प्रयाण कर गया। अल्पवय और महामेधा की संगति साधारण जनों को तो आश्चर्योत्पादक सी लगती है। यह जगत का दुर्भाग्य है कि मोक्षमार्गप्रकाशक अपने पूर्ण स्वरूप में हमें उपलब्ध नहीं है। ग्रन्थकर्त्ता 'इसका

आगे वर्णन करेंगे के द्वारा इसके महाविस्तार की यत्र-तत्र सूचना देते ही रहे हैं। यदि वह पूर्ण हो सकता तो मोक्षमार्ग के मूलाधार सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र अपने सम्पूर्ण वैभव के साथ उसमें अवतरित होते और तब उसका क्या स्वरुप होता-यह कल्पना का विषय नहीं है। फिर भी यह ग्रन्थ अपने अपूर्ण रूप में भी इतना परिपूर्ण है कि जड़ता से ग्रसित आज के जगत के मार्ग दर्शन के लिये उसके पास प्रचुर सामग्री है और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये हिन्दी जैन साहित्य के कोष में इसकी समता की अन्य कोई कृति नहीं है।

महामना पण्डित टोडरमलजी के मस्तिष्क में तो मोक्षमार्गप्रकाशक के न मालूम कितने अधिकार प्रच्छन्न थे किन्तु उसके नव अधिकार भी पूरे नहीं हो सके हैं। नवम् अधिकार भी अधूरा रह गया है। वास्तव में उसके आठ अधिकार तो ग्रंथ की उत्थानिका मात्र हैं। मोक्षमार्ग के प्रथम चरण सम्यग्दर्शन का वर्णन तो नौंवे अधिकार से ही प्रारम्भ हुआ है, और वह भी अधिकांश अपूर्ण ही रह गया है। आगे सम्यग्दर्शन के सांगोपांग वर्णन के लिये ही न मालूम कितने अधिकार अपेक्षित होते ?

मोक्षमार्गप्रकाशक के इस अपूर्ण गर्भ में भी न मालूम कितने रहस्य भरे पड़े हैं। उसके विषय के विकास-क्रम में धर्म और उसकी जीवन के उत्कर्ष में अनिवार्यता, धर्म की उपलब्धि के साधन, देव, गुरु और सत् साहित्य तथा परीक्षा

पूर्वक उनका स्वीकार, धर्मविरोधी तत्व, आस्तिकता-नास्तिकता, पारंपरिक कुलाचार में धर्म की संभावना, पुण्य-पाप और उनके फल की सिद्धि, मुक्ति तथा उसका फल, स्थायी तथा स्वाधीन सुख आदि अनेक महत्वपूर्ण विषय प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप से सहज ही उसमें गर्भित हो गये हैं।

इस ग्रंथ के नव-अधिकारों का विषयानुरूप बड़ा ही स्वाभाविक विकास हुआ है। प्रथम अधिकार में उत्तम फल अर्थात् उत्तम सुख के लिये परमइष्ट अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा साधु का स्वरूप विस्तार से कहा गया है। अनेक स्थलों पर पण्डित टोडरमलजी के अभिधा-परक वाक्यों से भी बड़े महत्त्वपूर्ण व्यंगार्थ फलित होते हैं। जैसे ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही अरहंतो के स्वरूप-वर्णन की प्रथम पंक्ति है 'तहां प्रथम अरहंतनि का स्वरूप विचारिये हैं' तथा सिद्धों के स्वरूप-वर्णन की प्रथम पंक्ति है 'अब सिद्धनि का स्वरूप ध्याइये हैं' दोनों वाक्यों में अभिधा का प्रयोग है किन्तु अरहंतों के साथ 'विचारिये' और सिद्धों के साथ 'ध्याइये' शब्द बड़े महत्त्व के हैं। वास्तव में ध्यान का ध्येय सिद्धों का स्वरूप ही है क्योंकि आत्म-विकास की चरम अभिव्यक्ति उन्हीं में होती है। अरहन्तों का स्वरूप अपूर्ण होने से ध्येय नहीं है। अतः 'विचारिये' तथा 'ध्याइये' शब्दों का बड़ा सार्थक प्रयोग हुआ है। इन परमेष्टियों के नमस्कार तथा इनकी उपासना का उद्देश्य निराकुल शान्ति तथा उसके

साधन वीतरागता की उपलब्धि मात्र है। अन्य किसी भी लौकिक-प्रयोजन प्रेरित इनकी उपासना आत्महितकारिणी नहीं होती उसका विस्तृत वर्णन पण्डित टोडरमलजी ने प्रथम अधिकार में किया है।

यद्यपि मोक्षमार्गप्रकाशक में पण्डित टोडरमलजी को मोक्षमार्ग का विवेचन करना ही इष्ट रहता है किन्तु मोक्षप्रतिपक्षी बंध दशा और उसके कारणों के परिज्ञान के बिना मुक्ति संभव ही नहीं है; अतः सर्व प्रथम संसार दशा के वर्णन से उन्होंने अपने ग्रंथ का प्रारम्भ किया है। इसीलिये इस ग्रन्थ के दूसरे, तीसरे तथा चौथे अधिकार संसार तथा उसका निमित्त कर्म, तथा कर्मोदय से होने वाले आत्मा के विविध काषायिक परिणाम, सांसारिक प्राणियों के चतुर्गति सम्बन्धी दुःख और उनके मूल कारण मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान तथा मिथ्याचारित्र के मार्मिक वर्णन से अलंकृत हैं।

मोक्षमार्गप्रकाशक के पाँचवें अधिकार 'विविध मत समीक्षा' में जहाँ पण्डित टोडरमल के प्रकांड पांडित्य तथा उनके विशाल ज्ञान कोष का परिचय मिलता है वहाँ उससे यह भी एकदम स्पष्ट हो जाता है कि इस अधिकार का उदय ही उस सत्यान्वेषी पुरुष की लोकरंजनकारी वृति के अभाव की सत् प्रेरणा से हुआ है। उसमें न अपने की ममता है और न पर की गर्हा।

छठा अधिकार सत्य-तत्त्व विरोधी असत्यायतनों के स्वरूप विस्तार में प्रतिबद्ध है। उसमें ये ही निर्देश किया गया है कि मुक्ति-विरोधी तत्त्वों से कभी सम्पर्क नहीं साधना चाहियें। अन्यथा वह पुरुष मुक्ति-पथ को खो देता है।

समूचे मोक्षमार्गप्रकाशक में उसका सातवाँ तथा नवाँ अधिकार सर्वाधिक महत्व के हैं। मुक्त तथा मुक्ति-पथिक पुरुष तथा इनकी तात्त्विक वाणी का दुर्लभ योग पाकर भी 'जैन' संज्ञक प्राणी किस प्रकार अज्ञान की उपासना करता रहता है और तत्त्व के सम्मुख होकर भी किस प्रकार तत्त्व का विरोध करता रहता है इसका मनोमुग्धकारी सांगोपांग विशद विवेचन सातवें अधिकार की विषय सामग्री है।

समग्र जैन वाङ्मय विषय भेद की दृष्टि से प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग के चार वर्गो में विभक्त है। अतः आठवें अधिकार में 'प्रत्येक अनुयोग का विषय उसकी वर्णन शैली, तथा प्रयोजन और शैली के कारण दिखाई देने वाला उनका पारस्परिक विरोध तथा स्याद्वाद पद्धति में इस विरोध का अद्भुत समन्वय और मुक्ति-पथ के पथिक के लिये जीवन में सत्साहित्य का महत्व' आदि विषय बड़ी रोचकता से संग्रहीत किये गये हैं।

नवां अधिकार इस ग्रन्थ का अन्तिम स्वरूप है और वह भी अपूर्ण है। मुक्ति के बाधक तत्त्वों का सविस्तार दिग्दर्शन

कर चुकने के उपरांत मोक्षमार्ग के अविभाज्य अवयव सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की विस्तृत विवेचना पण्डित टोडरमलजी नवें अधिकार से ही करना चाहते थे। किन्तु उसमें मात्र सम्यग्दर्शन का ही थोड़ा सा वर्णन हो पाया है। सम्यग्दर्शन का अवशिष्ट तथा सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तो बिलकुल अछूते ही रह गये हैं।

मोक्षमार्गप्रकाशक का तत्त्वज्ञानः- मोक्षमार्गप्रकाशक में जैन तत्त्वज्ञान से सम्बन्धित प्रायः सभी विषय प्रत्यक्ष अथवा परोक्षरूप में समाविष्ट हो गये हैं। यद्यपि उसका मूल विषय तो मोक्षमार्ग का प्रकाशन ही है किन्तु प्रकारान्तर से उसमें जैन कर्म सिद्धान्त, निमित्त-उपादान, स्याद्वाद-अनेकांत, निश्चय-व्यवहार, पुण्य-पाप, दैव तथा पुरुषार्थ पर बड़ी तात्त्विक विवेचनायें उपलब्ध होती हैं।

कर्म सिद्धान्तः- कर्म-सिद्धान्त जैनदर्शन का एक मौलिक अनुसंधान है जो अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। आत्मा के राग-द्वेष रूप विकारी भावों को निमित्त पाकर पौद्गलिक (जड़) कार्माणवर्गणा में चुम्बक और लोह की भाँति जो स्वाभाविक स्पंदन तथा उनका आत्म-प्रदेशों के साथ जो बंधन होता है उसका परिचय विश्व को केवल जैन दर्शन ही देता है। आत्मा के साथ रहने की अवधि में भी जड़ कर्मों में आत्मा के परिणामों के निमित्त से विविध रासायनिक (अनुभाग सम्बन्धी) परिवर्तन होते हैं, उनका अत्यन्त सूक्ष्म

विवेचन भी जैनागम में उपलब्ध होता है। जैन दर्शन का यह अनुसंधान विश्व को उसकी एक अनूठी देन है। आत्मा के रागद्वेष भावों से कर्म बंध और कर्म के उदय से आत्मा के रागद्वेषभाव इस प्रकार की संगति होने पर भी आत्मा और कर्म दो भिन्न तत्त्व होने के कारण केवल अपने-अपने परिणामों को ही निष्पन्न करते हैं, परस्पर एक दूसरे के परिणामों को नहीं। अतः दोनों में विद्यमान इस अकर्त्तृत्व का रहस्योद्घाटन भी जैन दर्शन करता है। और इस प्रकार वह आत्मा की इस भ्रांति को कि 'कर्म उसके संसार, विकार, अथवा सुख-दुःख को उत्पन्न करता है अथवा इनकी उत्पत्ति में योगदान करता है' निर्मूल करता है। पण्डित टोडरमलजी ने आत्मा और कर्म सम्बन्धी इस रहस्य का मोक्षमार्ग प्रकाशक में अनेक स्थलों पर उद्घाटन किया हैः-

(दूसरा अधिकार) " जीव भावको निमित्त करि पुद्गल परमाणुनिविषै ज्ञानावरणदि रूप शक्ति हो है। इहां विचार करि अपने उद्यमतें कार्य करे तो ज्ञान चाहिए अर तैसा निमित्त बने स्वयमेव तैसे परिणमन होये तो तहां ज्ञान का किछू प्रयोजन नाहीं।

"सो ऐसे होने विषै कोऊ कर्म-वर्गणा रूप पुद्गल पिंडके ज्ञान तो नाहीं है जो मैं ऐसे परिणमों अर और भी कोई परिणमावन हारा है नाहीं, ऐसा ही निमित नैमित्तिक भाव बनि रह्या है ताकरि वैसे ही परिणमन पाइये है।"

"बहुरि जब कर्म प्रकृतिनि का उदयकाल आवै तब स्वयमेव तिनि प्रकृतिनि के अनुभाग के अनुसारि कार्य बनै। कर्म तिनिका कार्यनिकौं निपजावता नाहीं। याका उदयकाल आय यह कार्य बनै है इतना ही निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध जानना।"

निमित्त-उपादानः- किसी एक पदार्थ में जब कोई कार्य निष्पन्न होता है तो वहाँ एक दूसरा पदार्थ भी नियम से विद्यमान होता है जो उस कार्य को उत्पन्न भी नहीं करता, उसमें योग भी नहीं देता, किन्तु उस कार्य की उत्पत्ति के साथ अपनी अनुकूलता रखता है, वस्तुस्थिति के इस नियम को उपादान-निमित्त सम्बन्ध कहते हैं। जिस पदार्थ में कार्य निष्पन्न होता है उसे उपादान, उस कार्य को उपादेय अथवा नैमित्तिक, तथा संयोगी इतर पदार्थ को निमित्त कहते हैं। निमित्त-उपादान के सम्बन्ध में जगत की भ्रांति यह है कि व्यक्ति अपनी भूल से उत्पन्न अपने दोषों का कारण उस पदार्थ को घोषित कर बैठता है जो उस समय कार्य के साथ मात्र विद्यमान रहता है। और इस प्रकार स्वयं निर्दोष हो जाना चाहता है। किन्तु जैसे एक चोर अपने चौर्य कर्म का आरोप चांदनी को देकर दण्ड-मुक्त नहीं हो सकता, इसी प्रकार अपने उपादान से उत्पन्न दोष का भार निमित्त पर रखने की चेष्टा आत्मा में उत्तरोत्तर विकार तथा दुःख का संचय करती है, क्योंकि इस प्रवृत्ति में स्वदोष दर्शन तथा आत्म निरीक्षण के लिए अवकाश ही नहीं है।

जैन दर्शन उपादान-निमित्त सम्बन्धी इस भ्रांति का बड़ा सुन्दर समाधान प्रस्तुत करता है। जैन दर्शन का यह मत है कि जगत का प्रत्येक पदार्थ अनन्त शक्ति का समुदाय है और वे शक्तियां पदार्थ में सदा ही निरपेक्ष भाव से परिणमित होती रहती हैं। अपने परिणमन में उन्हें किसी इतर पदार्थ से कुछ भी आदान प्रदान नहीं करना पड़ता। यदि आदान-प्रदान को सैद्धान्तिक रूप से स्वीकार कर लिया जाये तो चेतन जड़ को अपनी चेतना तथा जड़ चेतन को अपनी जड़ता भी प्रदान कर सकेगा, किन्तु यह असंभवता कभी साकार होती ही नहीं है। अतः यह निर्विवाद है कि लोक में आदान प्रदान की बात एकदम औपचारिक है, यथार्थ नहीं। वस्तु-स्वभाव-गत इस नियम के अनुसार निमित्त और उपादान दोनों की अपनी-अपनी स्वतंत्र मर्यादायें हैं। यद्यपि दोनों की स्वतंत्र स्थिति है तो भी इस तथ्य का उल्लंघन कभी नहीं होता कि जब उपादान अपनी शक्ति से परिणमनशील होकर किसी कार्य को निष्पन्न करता है तो वहाँ इतर पदार्थ निमित्त के रूप में विद्यमान होता ही है। ***निमित्त-उपादान की स्वतंत्र स्थिति तथा उनका अनिवार्य सहचार ये दोनों ऐसे तथ्य हैं जो निमित्त उपादान सम्बन्धी अगणित प्रश्नों के समाधान के लिये पर्याप्त हैं।*** मोक्षमार्गप्रकाशक में यथावसर अनेक स्थानों पर निमित्त-उपादान सम्बन्धी इसी तथ्य का बल पूर्वक समर्थन किया है, जैसे (दूसरा अधिकार) जो कर्म आप कर्त्ता होय उद्यम करि जीव के स्वभाव को घातै, बाह्य सामग्री

मिलावै तब कर्म के चेतनपनौं भी चाहिये अर बलवानपनौं भी चाहिये, सो तो है नाहीं। सहज ही निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। जब उन कर्मनि का उदय काल होय तिस काल विषै आप ही आत्मा स्वभाव रूप न परिणमे, विभाव रूप परिणमे।"

"कोऊ कहैगा निमित्तमात्र तो है ? ताका उत्तर-पर द्रव्य जोरावरी तो कोई बिगारता नाहीं अपने भाव बिगरै तब वह भी बाह्य निमित्त है।........ ऐसे पर द्रव्य का दोष देखना मिथ्या भाव है।"**(सातवां अधिकार)**

"जातै पर द्रव्य को ग्रहण-त्याग आत्मा के होय तौ आत्मा पर द्रव्य का कर्त्ता-हर्त्ता होय सो कोई द्रव्य कोई द्रव्य के आधीन है नाहीं।"**(सातवां अधिकार)**

अपने निमित्त-उपादान के प्रकारण में महापंडित बनारसीदासजी ने भी इसी तथ्य का समर्थन करते हुए अपने काव्य के मात्र दो चरणों में निमित्त-उपादान सम्बन्धी सम्पूर्ण विवाद को समाधिस्थ कर दिया है। वे लिखते हैं :

"उपादान निज गुण जहां तहां निमित्त पर होय,
भेद-ज्ञान परवान विधि विरला बूझे कोय।"*

* इन दोहों पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजी स्वामी के प्रवचन 'मूल में भूल' तथा 'निमित्तोपादान विवेचन' ग्रन्थ में हिन्दी में प्रकाशित हैं।

निश्चय व्यवहार:- मोक्षमार्गप्रकाशक के सातवें अधिकार में पण्डित टोडरमलजी ने निश्चय-व्यवहाररूप अनेकान्त का विशद विवेचन किया है। यह वर्णन पं० टोडरमलजी की प्रज्ञा की पैनाई का ज्वलंत प्रमाण है। मोक्षमार्ग की बाधक सूक्ष्म से सूक्ष्म भूल भी उनकी तीक्ष्ण दृष्टि से नहीं बच सकी है। निश्चय और व्यवहार की एकान्त मान्यताएं मोक्षमार्ग में बाधक बनकर कैसे खड़ी रहती हैं इसका ऐसा विस्तृत सांगोपांग तथा सरस वर्णन हिन्दी जैन साहित्य में अन्यत्र उपलब्ध नहीं है।

अनेकान्त जैन दर्शन का प्राण है। अनेकान्त अर्थात् अनेक धर्म, पदार्थ स्वयं अनेकान्त स्वरूप अर्थात् अनन्त धर्म या अनन्त स्वभाव स्वरूप होता है। प्रत्येक वस्तु में अस्ति-नास्ति, नित्य-अनित्य, एक-अनेक, सत्-असत् आदि अनन्त स्वभाव होते हैं। ये स्वभाव वस्तु की रक्षा करते हैं। यथा अस्ति धर्म पदार्थ के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का नियमन करके पदार्थ को अपने स्वरूप से प्रतिष्ठित रखता है अर्थात् उसे पर रूप नहीं होने देता। इसी प्रकार नास्ति धर्म उसमें अन्य पदार्थ का प्रवेश निषिद्ध कर अन्य पदार्थ को उस रूप नहीं होने देता। इस प्रकार एक ही पदार्थ अस्ति स्वरूप भी है और नास्ति स्वरूप भी है ऐसा अनेकान्त है। इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ अविनष्ट रहकर प्रति समय अपनी नवीन अवस्था का उत्पाद और पुरानी अवस्था का विनाश किया

करता है अतः वह नित्यानित्यात्मक है और एक ही वस्तु अभेद और अखण्ड होने पर भी उसमें अनन्त गुण अथवा शक्तियां तथा उन शक्तियों की अनन्त अवस्थाएं प्रति समय होती हैं अतः वह एकानेकात्मक है। यह अनेकान्त का सैद्धान्तिक पक्ष है। जीवन में इस सिद्धान्त की महती उपयोगिता है। उसका संदेश है कि विश्व के अनन्त जड़ चेतन पदार्थ अपने-अपने अस्ति स्वभाव से प्रेरित होकर सदा ही अपने स्वरूप में रहते हैं। और वे कदाचित् आकाश के एक ही क्षेत्र में अत्यन्त निकट भी रहें तो भी इस प्रकार नितांत भिन्न रहते हैं जैसे हिमालय और विन्ध्याचल, और वे इस प्रकार कभी नहीं मिलते जैसे नदी के दो किनारे। सबकी अपनी-अपनी सीमा है और अपना-अपना घर। सभी अपनी-अपनी सीमा में अपनी-अपनी शक्ति से अपने नियत कार्यों का सम्पादन करते ही रहते हैं। एक को दूसरे की अपेक्षा ही नहीं है तो फिर परस्पर सीमोल्लंघन का प्रश्न ही नहीं उठता। अतः उनके पारस्परिक सहयोग और प्रभाव की बात भी निर्मूल हो जाती है।

पदार्थ का कार्य पदार्थ में हो और उसका प्रभाव कहीं अन्यत्र हो यह तथ्य सदोष है। अपराध अथवा सुकृत कोई करे और फल किसी अन्य को मिले यह बात लोक को भी सम्मत नहीं है। अतः प्रत्येक पदार्थ अपने कार्य को अपनी शक्ति से अपने लिये अपने में से अपने में ही निष्पन्न करता

है ऐसी षट्कारकीय निर्बाध व्यवस्था है। फलस्वरूप एक पदार्थ कभी अन्य का कर्त्ता, कर्म, कारण, सहयोगी तथा प्रभावक होता ही नहीं है। दो पदार्थों के एकत्व के बिना उसका पारस्परिक कर्तृत्व, कर्मत्व, करणत्व अथवा अन्य भी कोई सम्बन्ध बनता ही नहीं है। यदि दो पदार्थों के एकत्व की बात सैद्धान्तिक रूप से स्वीकार करली जावे तो वह अनन्त द्रव्यात्मक लोक आज हमारे समक्ष एक महापिण्ड के रूप में विद्यमान होता। किन्तु यह एकत्व की बात नितांत असत्य है क्योंकि भिन्न पदार्थों के भिन्न परिणामों की भिन्न ही प्रतीति और अनुभूति होती है।

यह विश्व व्यवस्था है। इसके भीतर प्रत्येक पदार्थ सदा ही सुरक्षित है और अपने अगणित क्रिया कलापों का एक छत्र सम्राट है। पदार्थ के इस पर निरपेक्ष स्वरूप को प्रतिपादन करने वाली पद्धति को निश्चयनय कहते है। पदार्थ की अंतरंग स्थिति पर निरपेक्ष तथा स्वयं स्वतंत्र होते हुए भी उसका एक बहिरंग पक्ष भी है, और वह यह कि वह एकाकी होकर भी लोक के अन्य पदार्थों के साथ रहता है। भिन्न पदार्थों में परस्पर कभी संयोग और कभी वियोग भी होता है। कभी-कभी वह संयोग और वियोग भी इतना व्यवस्थित होता है कि वह एक नियम अथवा सिद्धान्त का रूप धारण कर लेता है और फिर उन दो पदार्थों के संयोग वियोग अथवा संयोग-वियोग में होने वाले उनके परिणाम उस नियम

से ही अनुशासित होते हैं। दो पदार्थों के संयोग वियोग में उनमें एक साथ अथवा पूर्वोत्तर काल में नियम से होने वाले परिणामों में लोक में कर्त्ता-कर्म अथवा कारण कार्य भाव का व्यपदेश भी होने लगता है। जैसे यह त्रिकालाबाधित नियम है कि आत्मा में जब चैतन्य-विकार अर्थात् राग-द्वेष रूप परिणाम होते हैं तो पौद्गलिक कार्माणवर्गणा आत्मा की ओर आकर्षित होकर आत्मा के प्रदेशों के साथ क्षीर-नीर की भाँति बंध को प्राप्त हो जाती है। इसी प्रकार आत्मा जब अपने स्वभाव के आश्रय से निर्विकार परिणमन करता है तो कार्माणवर्गणा का आत्मा के प्रदेशों से वियोग हो जाता है। अतः इस नियम के निरपवाद होने से ऐसा भी व्यपदेश आगम और लोक में किया जाता है कि आत्मा विकार से कर्म बांधता है और निर्विकार भावना से कर्मों का क्षय करता है। यद्यपि आत्मा और कर्म दो भिन्न पदार्थ होने के कारण परस्पर एक दूसरे के कर्त्ता, कर्म अथवा करण कभी भी नहीं होते किन्तु एक सुनिश्चित नियम के अंतर्गत उनका संयोग वियोग होने के कारण उनमें प्रयोजन अथवा निमित्तवश पारस्परिक कर्त्ता, कर्म, करण आदि का व्यपदेश एकदम अनुचित अथवा निराधार नहीं है। वस्तु के इस बाह्यपक्ष का विवेचन करने वाली पद्धति को व्यवहारनय कहते हैं। दोनों ही नय की उस विवेचन पद्धति का पण्डित टोडरमलजी ने अपने मोक्षमार्गप्रकाशक के सप्तम अधिकार में बड़ा सुन्दर

स्पष्टीकरण किया है। वे लिखते है - "जिनमार्ग विषै कहीं तो निश्चयनय की मुख्यता लिए व्याख्यान है ताको तो, 'सत्यार्थ ऐसे ही है', ऐसा जानना, बहुरि कहीं व्यवहारनय की मुख्यता लिए व्याख्यान है ताकौं, 'ऐसे है नाहीं, निमित्तादि अपेक्षा उपचार किया है', ऐसा जानना। इस प्रकार जानने का नाम ही दोऊ नयनि का ग्रहण है। बहुरि दौऊ नयनि के व्याख्यान को समान सत्यार्थ जानि ऐसे भी है, ऐसे भी है, ऐसा भ्रमरूप प्रवर्तन करै तौ दोऊ नयनि का ग्रहण करना कह्या है नाहीं।"

निश्चय और व्यवहारनय के सम्बन्ध में पण्डितप्रवर टोडरमलजी की इस व्याख्या के प्रकाश में यदि हम देखें तो लोक के अनन्त पदार्थों में घटने वाले अनन्त प्रकार के सम्बन्धों से हमारे भीतर उत्पन्न अनन्त भ्रम तुरन्त निरस्त हो जाता है। लोक की कैसी भी परिस्थिति और कैसा ही घटनाचक्र क्यों न हो और उनके कर्त्ता, कर्म, कारणों के सम्बन्ध में कैसी भी भ्राँति क्यों न हो, निश्चय और व्यवहार की तुला पर रखते ही अविलम्ब उनका संतुलन हो जाता है। सर्वज्ञोपदिष्ट आगम में विवक्षा और प्रयोजन भेद के कारण दिखाई देने वाले पारस्परिक विरोध में इस प्रकार सामंजस्य स्थापित हो जाता है कि फिर जीवन में उसका कभी उदय नहीं होता। जीवन में अनेकान्त की यही सर्वोपरि उपयोगिता है कि उसका स्वीकार बुद्धि को निर्मल बनाता है, मस्तिष्क

का सम्पूर्ण विकार धुल जाता है। मिथ्या कारण-कार्य के स्वीकार में अपनी भूल से अपने भीतर उत्पन्न दोषों का निरन्तर कर्मादिक पर आरोप करते रहने और फिर भी दोष का वारण न होने से जो क्षोभ, आकुलता, अशांति जीवन में चलती रहती है अनेकान्त उसका एक मात्र समाधान है। अनेकान्त के आलोक में निश्चयनय के द्वारा अपनी भूल अपने को विदित हो जाने पर फिर भूल और उससे सम्बद्ध दोषों की संतति का अस्तित्व ही संभव नहीं होता।

लोक में आत्मा के सम्बन्ध से शरीर को जीव, शरीर के सम्बन्ध से आत्मा को मूर्तिक, इन्द्रियों की पौद्‌गलिक रचना को प्राण कहने की अनादि रूढ़ि है। इसी प्रकार आत्मा शरीर की व्यवस्था करता है, शरीर आत्मा का संचालन करता है, कर्म आत्मा को भयंकर कष्ट देते हैं, इत्यादि लोक तथा आगम के पारस्परिक कर्त्ता, कर्म भाव प्रेरित सभी कथन व्यवहारनयात्मक औपचारिक पद्धतियाँ ही हैं।

इस रहस्य को हृदयंगम कर लेने पर लोक के अनन्त पदार्थों से आत्मा के हानि-लाभ की समस्त संभावनायें समाप्त हो जाती हैं। आत्मा कर्म के भयंकर भय की गठरी अपने शीश से उतार कर फैंक देता है, और कर्तृत्व की कारा में घुटने वाली चैतन्य की श्वासों को स्वाधीनता का उन्मुक्त पवन नवजीवन देता है। यहीं सत्य मोक्षमार्ग है और शेष सब बन्धमार्ग है। जितने कुछ पर मुखापेक्षी परिणाम हैं, वे सब

बन्धभाव अथवा बन्धमार्ग में ही गर्भित होते हैं। ये बन्धभाव जब प्रशस्त राग (पुण्य) का रूप धारण कर वीतराग मोक्षमार्ग के साथ उदित होकर उसका समर्थन करते हैं, अथवा आत्मा को उसके प्रति प्रेरणा प्रदान करते हैं तो इन्हें भी व्यवहारनय की उपचारित शैली में मोक्षमार्ग की संज्ञा दी जाती है, किन्तु निश्चयनय उन्हें सदा बन्धभाव की कोटि में ही रखता है। उसकी दृष्टि में सदा ही केवल एक वीतराग भाव ही मोक्षमार्ग की कक्षा में प्रतिष्ठित रहता है।

निश्चय व्यवहार मोक्षमार्ग के सम्बन्ध में देव, गुरु और आगम का सानिध्य पाकर भी आर्हत् मतानुसारी पुरुषों में भी जो अगणित भ्रान्तियाँ पड़ी रहती हैं उनका मार्मिक विश्लेषण पण्डित टोडरमलजी ने सप्तम अधिकार में किया है। जो लोग निश्चय-व्यवहार दो प्रकार का मोक्षमार्ग मानते है उनका परिहार पण्डित टोडरमलजी इन शब्दों में करते हैं - "मोक्षमार्ग दोय नाहीं, मोक्षमार्ग का निरूपण दोय प्रकार है। जहां सांचा मोक्षमार्ग को मोक्षमार्ग निरूपण सो निश्चय मोक्षमार्ग है अर जहां जो मोक्षमार्ग तो है नाहीं परन्तु मोक्षमार्ग का निमित्त है या सहचारी है ताको उपचार करि मोक्षमार्ग कहिये सो व्यवहार मोक्षमार्ग है। जातैं निश्चय व्यवहार का सर्वत्र ऐसा ही लक्षण है। सांचा निरूपण सो निश्चय, उपचार निरूपण सो व्यवहार इसलिये निरूपण अपेक्षा दोय मोक्षमार्ग जानना। एक निश्चय मोक्षमार्ग है, एक व्यवहार मोक्षमार्ग है। ऐसे

दोय मोक्षमार्ग मानना मिथ्या है। बहुरि निश्चय व्यवहार दोऊनिकूं उपादेय मानै सो भी भ्रम है"।

इस प्रकार निश्चय-व्यवहार के सम्बन्ध में अज्ञान से अनुशासित होकर आत्मा जितनी प्रकार से भूल करता है, एक-एक करके उन सभी का चित्रण करते हुए पण्डित टोडरमलजी ने जो तर्क, आगम और अनुभव सम्मत समाधान दिया है वह एक असाधारण वस्तु है।

पुण्य-पापः- पुण्य और पाप दोनों आत्मा को विकारी अंतर्वृत्तियाँ हैं, और जैन दर्शन ने इनकी भी अपने साहित्य में विस्तृत मीमांसा की है।

देवपूजा, गुरूपासना, दान, अनुकंपा आदि प्रशस्त परिणाम पुण्य हैं और इनका फल स्वर्गादि होते हैं। तथा हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील, परिग्रह आदि अप्रशस्त आत्मपरिणाम पाप हैं और उनका फल नरकादि होते हैं।

अधिकांश भारतीय दर्शन पाप को आत्मा के लिये अहितकर और पुण्य को आत्मा के लिये हितकर प्रतिपादित करते हैं। किन्तु जैन दर्शन इन दोनों को निर्वाण का बाधक स्वीकार करता है। जैसे पाप आत्मा का विषम भाव है उसी प्रकार पुण्य भी। पुण्य और पाप दोनों में ही आत्मा अपनी स्वरूप स्थिति में न रह कर पराधीन रहता है। दोनों ही आत्मा की परमुखापेक्षी वृत्तियाँ हैं। जैसे पाप किसी इन्द्रिय

विषय का आश्रय लेकर प्रवर्तित होता है उसी प्रकार दान, अनुकंपा आदि पुण्य परिणाम भी किसी प्राणी के आश्रय से ही उत्पन्न होते हैं। इसका अर्थ यह कि इन दोनों भावों की प्रवृति के लिये आत्मेतर किसी अन्य पदार्थ का आश्रय अनिवार्य है और पराधीन भाव आत्मा को पराधीन करते हुए ही जन्म लेते हैं ; अतः वे आत्मा के स्वाभाविक समरसीभाव नहीं कहे जा सकते। फलतः वे निर्वाण के बाधक ही होते हैं।

पुण्य और पाप दोनों परिणामों में अर्थ क्रियाकारित्व भी नहीं होता। कोई प्राणी किसी का अहित करने की भावना तो करे किन्तु उसकी भावना से किसी का अहित होना अनिवार्य नहीं है। इसी प्रकार कोई प्राणी किसी की रक्षा के परिणाम तो करे किन्तु उसके परिणामों से किसी की रक्षा होना अनिवार्य नहीं हैं। अर्थ क्रियाकारित्व न होने के कारण सदा ही विवशता का अनुभव होने से इन भावों में आत्मा की विकलता अवश्यंभावी है। अतः जैन मनीषी आत्मा के ज्ञान-आनंद स्वरूप स्वभाव के समक्ष इन भावों की अत्यंत निरर्थकता घोषित करते हुए आत्मा के हित में इनकी उपादेयता का भी निषेध करते हैं।

मोक्षमार्गप्रकाशक के सातवें अधिकार में पण्डित टोडरमलजी ने इसका अत्यंत स्पष्ट प्रतिपादन किया है। वे कहते हैं "बहुरि इस शुभोपयोग को बंधका ही कारण जानना। जातैं बंध और मोक्ष के प्रतिपक्षीपना है। तातैं एक

ही भाव पुण्य बंध को भी कारण होय अर मोक्ष को भी कारण होय ऐसा मानना भ्रम है।

.....बहुरि निचली दशा विषै केई जीवनि के शुभोपयोग अर शुद्धोपयोग का युक्तपना पाइये। तातैं उपचार करि व्रतादिक शुभोपयोग को मोक्षमार्ग कह्या है। वस्तु विचारतें शुभोपयोग मोक्ष का घातक ही है। जातैं बंध का कारण होय सोई मोक्ष का घातक है। ऐसा श्रद्धान करना। बहुरि शुद्धोपयोग को ही उपादेय मानि ताका उपाय करना। शुभोपयोग-अशुभोपयोग को हेय जानि तिनके त्याग का उपाय करना।"

..“बहुरि कोई ऐसे माने कि शुभोपयोग है सो शुद्धोपयोग को कारण है सो जैसे अशुभोपयोग छूटि शुभोपयोग हो है तैसे शुभोपयोग छूटि शुद्धोपयोग हो है। ऐसा कार्य कारणपना होय तो शुभोपयोग का कारण अशुभोपयोग ठहरै।"

दैव और पुरुषार्थः- जैन दर्शन दैव और पुरुषार्थ की भी एक बुद्धिगम्य जीवनोपयोगी व्याख्या प्रस्तुत करता है। पुरुषार्थ प्रायः पुरुष के उन प्रयत्नों को समझा जाता है जिनका प्रयोग व्यक्ति लौकिक उपलब्धियों के लिये करता है। इस सम्बन्ध में जैन दर्शन का मत यह है कि लौकिक उपलब्धियाँ पुरुष-प्रयत्न सापेक्ष होती ही नहीं है। यदि वे पुरुष-प्रयत्न साध्य हो तो जो जितना श्रम करे उसे उतना ही अधिक मिलना ही चाहिये। किन्तु वस्तु स्थिति बहुलता

से इसके विपरीत देखी जाती है। अतः शरीर से होकर मन, वाणी, सौंदर्य, आरोग्य आदि तथा धन, भाग्य, स्त्री, पुत्रादि सभी वस्तुएं दैवकृत हैं। आत्मा तो मात्र इनकी उपलब्धि के लिये रागद्वेष का विपरीत पुरुषार्थ मात्र कर सकता है। इसके आगे इनके सम्पादन में आत्मा का कोई अधिकार नहीं है। दैव पूर्व नियोजित होता है और पुरुषार्थ इहचेष्टित। लोक में दैव भाग्य को कहते हैं। वर्तमान जीवन में जो भी लौकिक उपलब्धियाँ होती हैं वे पूर्ण नियोजित दैव के अनुकूल होती हैं। और भावी भाग्य की रचना का आधार आत्मा का वर्तमान कर्म अर्थात् वर्तमान पुरुषार्थ होता है। आत्मा का पुरुषार्थ यदि पाप मे प्रवर्तित होता है तो उसके निमित्त से पाप कर्म का संचय होता है और यदि वह पुण्य में वर्तन करता है तो उससे पुण्य कर्म संचित होता है। यही पुण्य-पाप कर्म आत्मा का दैव अर्थात् भाग्य कहलाते हैं।

जड़ कर्मो के निमित्त से समस्त लौकिक सुख दुख की तो प्राप्ति संभव होती है किन्तु आत्मा के स्वाधीन शाश्वत आनन्द की प्राप्ति न तो पाप-पुण्य के पुरुषार्थ से होती है और न उनके द्वारा संचित कर्मो से। किन्तु उसकी उपलब्धि तो एक मात्र ज्ञानानन्द निकेतन आत्म-स्वरूप के प्रति सचेष्ट सम्यक् पुरुषार्थ से ही होती है। अतः पुण्य और पाप के भाव तथा उनके निमित्त से संचित मोहादि तथा वेदनीयादि कर्म तथा इन कर्मो के फल में प्राप्त बाह्य

सन्निधि यह सब दैव का ही परिकर है। इनमें प्रवाहित पुरुषार्थ निरन्तर आत्मा के नश्वर भाग्य की रचना करता है कि जो सदा ही दुःखद होता है। आत्मा की शाश्वत मुक्ति स्वरूप महाभाग्य की रचना तो पुण्य-पाप से विलक्षण आत्मा का सम्यक् पुरुषार्थ ही करता है। पुण्य और पाप के फल में जिसे समानरूप से पराधीनता तथा आकुलता का अनुभव होता है ऐसा निकट भव्य प्राणी ही अपने जागृत अन्तर से यह निर्णय करता है कि "निश्चय ही पुण्य पाप का सम्पूर्ण परिकर पराया है। और मैं ज्ञान आनन्द स्वरूप शुद्ध चेतन तत्त्व हूँ।" तब इस निर्णय से ही दैव के प्रतिबन्धों को अस्वीकार करता हुआ आत्म-पुरुषार्थ जागृत होकर चिर अवरूद्ध मुक्ति के द्वार का उद्घाटन करता है। अतः यह कथन तथ्य शून्य है कि दैव (कर्म) के चक्र में उलझे हुए प्राणी को मुक्ति का अवकाश ही नहीं है।

पण्डितप्रवर टोडरमलजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक के नवें अधिकार में इस विषय का सतर्क ऊहापोह किया है। जो लोग द्रव्य कर्म भावकर्म की परम्परा में सम्यक् पुरुषार्थ का अभाव स्वीकार करते है, उसका उन्होंने इस प्रकार प्रतिषेध किया है- "तत्त्व निर्णय करने विषै उपयोग न लगावै सो तो या ही का दोष है। बहुरि पुरुषार्थ करि तत्त्व निर्णय विषै उपयोग लगावे तब स्वयमेव ही मोह का अभाव भये सम्यक्त्वादि रूप मोक्ष के उपाय का पुरुषार्थ बने है। सो मुख्यपनै तो तत्त्व निर्णय विषै उपयोग लगावने का पुरुषार्थ करना। बहुरि उपदेश भी दीजिये है जो इस ही पुरुषार्थ

करावने के अर्थ दीजिये। अर तत्त्व निर्णय न करने विषै कोई कर्म का दोष नाहीं तेरा ही दोष है। अर तू आपतो महन्त रहा चाहै अर अपना दोष कर्मनि के लगावै सो जिन आज्ञा मानै तो ऐसी अनीति संभवै नाही।"

अन्त में इतने विवेचन के उपरांत यह तो स्पष्ट हो जाता है कि मोक्षमार्गप्रकाशक महामना पं० टोडरमलजी के अगणित गुण रत्नों का अनमोल निधान है। उस सागर की छाती में न मालूम कितने मुक्ता बिखरे पड़े हैं।

आज के बुद्धिवादी मानव के लिये मोक्षमार्गप्रकाशक निश्चित ही एक भव्य प्रकाशस्तम्भ के समान दिशा निर्दिष्ट कर रहा है। जीवन के विकास के लिये सत्यासत्य के समुच्चय में से सत्य की शोध करने के लिये वह हमारे अन्तर्चक्षुओं को दिव्य आलोक देता है।

मोक्षमार्गप्रकाशक में प्रतिपादित तत्त्व किसी व्यक्ति अथवा वर्ग विशेष से सम्बद्ध नहीं है वरन् वह तो निखिल ही विश्व के लिये है। उसका प्रणेता मोक्ष के अवरूद्ध द्वार का निखिल ही जगत के लिये उद्घाटन करने के महान उदात्त आशयवाला है। और इसी पुनीत प्रेरणा के परिणामस्वरूप मोक्षमार्गप्रकाशक का उदय भी हुआ है। अतः मोक्षमार्गप्रकाशक किसी व्यक्ति अथवा वर्ग विशेष का उत्तराधिकार न होकर मानव मात्र के मनमन्दिर में उपास्यदेव के रूप से प्रतिष्ठित होने योग्य है।

निश्चित ही मोक्षमार्गप्रकाशक की भाषा, उसका भाव गांभीर्य उसकी अनूठी रचना शैली और उसमें गर्भित

अगाध आगमज्ञान ने पण्डित टोडरमलजी की 'आचार्य कल्प' संज्ञा को चरितार्थ कर दिया है।

अपने प्राणों के मूल्य पर मोक्षमार्गप्रकाशक जैसी अनुपम निधि को देकर निःसंदेह पं० टोडरमलजी ने समग्र विश्व और विश्व साहित्य को उपकृत किया है। मताग्रह का अंजन लगाकर भले ही विश्व उसका मूल्यांकन न कर पावे किन्तु इससे इस रत्नाकर की गरिमा कम नहीं होती। वरन् उसे न पहिचान कर विश्व मुक्ति के सर्वोच्च वरदान से वंचित ही रहा है।

काश ! हम उनके जीवन में पं० टोडरमलजी को पहिचान पाते तो मोक्षमार्गप्रकाशक आज अपने सम्पूर्ण स्वरूप में हमें उपलब्ध होता। फिर भी यदि हम उपलब्ध मोक्षमार्गप्रकाशक के प्रकाश में अपनी चिर-विस्मृत स्वरूप निधि का अनुसंधान कर सके तो यही हमारे जीवन की सर्व महान उपलब्धि होगी और यही पण्डित टोडरमलजी और उनके मोक्षमार्गप्रकाशक के प्रति हमारा सबसे बड़ा सम्मान होगा।

अन्त में मैं अपनी शत-सहस्र श्रद्धान्जलियाँ उन महापुरुष के चरण में समर्पित करता हूँ।

सर्वोदयी युगनेता

पूज्य श्री कानजीस्वामी जैन समाज की उन विभूतियों में से हैं जिनमें पवित्रता तथा पुण्य के संगम की बहुलता रही है। शताब्दियों के उपरान्त मानों एक निधि युग को मिली है, जिसे पाकर युग के सोते भाग्य जाग उठे हैं। उनके जीवन के अन्तरंग तथा बहिरंग दोनों पक्ष समानरूप से समृद्ध हैं। अन्तरंग जहाँ उनका अविरल प्रविचारित चेतना विलास है, वहाँ बहिरंग पक्ष में भी उनका द्रव्य और भाव पुण्य निराला है। भाव पुण्य की सर्वोच्च भूमिका तत्व-चिन्तन तथा तत्वविचार है। यह तो मानो उनकी दिनचर्या का अविभाज्य अंग है। निरन्तर अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग की पावन मंदाकिनी बहती है। आगम के गंभीर रहस्य अनेकान्तरूपी मथानी से मथकर ऐसे निकलते हैं मानो गोताखोर ने सागर की गहराईयों में से मोती निकाले हों। उनका तत्व मात्र आगम के पन्नों पर लिखा नहीं रहा, अनुभूति की गहराई में उतर गया है। जीवन में उस तत्व-संपादन के पीछे एक स्पर्धाजनक कहानी है।

वे ऐसे वातावरण में जन्मे जहाँ तत्वोपलाब्धि तो दूर, तत्व सुनने को नहीं मिला था। यह भी एक उदय की विचित्रता रही। वहाँ रहे भी पर मन नहीं माना। इतर जन जहाँ उदयजन्य संस्कारों को छाती से लगाकर तदाकार हो

जाते हैं वहाँ उन्होंने उन पर ज्ञान-घन का प्रहार किया और एकाकी तत्व की खोज में निकल पड़े। कोई सहयोगी नहीं, मार्गदर्शक भी नहीं, किन्तु पुरुषार्थ उग्र था, अतः स्वयं प्रबुद्ध हो तत्व को पा लिया। उन्होंने संपूर्ण लोक से दृष्टि समेटकर तथा अन्तर्विकल्पों से विराम लेकर क्षणभर के लिए भीतर देखा तो द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म के आवरण के भीतर शुद्ध तत्व श्रीफल के श्वेत गोले-सा स्वच्छ, अपने अकृत्रिम सौन्दर्य समन्वित किसी मंदिर के उपास्य देवता-सा अत्यन्त रमणीय, स्फटिक-सा निर्विकार, सागर-सा गंभीर और मेरू-सा निष्कंप अपने पूर्ण वैभव के साथ विराजमान था। अपरिमित भौतिक ऐश्वर्यों के स्वामी एक चक्रवर्ती की अपेक्षा उस तत्व को पाकर वे अधिक सुखी हैं। उदाहरण है उनका जीवन उन सबके लिए- तत्व जिनकी बपौती रही, सत्य धर्म जिन्हें उत्तराधिकार में मिला, किन्तु पानी में भी मीन प्यासा ही रह गया।

बहिरंग पक्ष में उनका द्रव्य पुण्य भी अद्वितीय है। सत्य के आँगन में एकाकी उनका पदार्पण हुआ किन्तु आज उनके साथ लाखों हैं। ऐसे विशिष्ट पुरुषों का योग किंचित् और कदाचित् ही मिलता है। उनके कारण स्वर्णपुरी आज स्वावलम्बन का प्रतीक बन गई है। जीवन के किसी क्षेत्र में सोनगढ़ आज परमुखापेक्षी नहीं है और न कभी रहा है। विद्वान, वकील, अभियन्ता, धन कुबेर सभी उस महापुरुष के आश्रम में आकर धन्य हुए हैं। बाह्य जीवन के विकास के दो मूल तत्व,

प्रतिभा और अर्थ, दोनो का अनुपम योग सोनगढ़ को मिला है। अत्यंत निस्पृह तथा निरीह ये दोनों अपनी सम्पूर्ण शक्ति से तत्व के सम्पादन तथा प्रसार में योगदान कर रहें हैं। अतुल आध्यात्मिक साहित्य वहाँ से प्रकाशित हुआ है और जो कुछ प्रकाशित हुआ है वह अनेकान्त की कसौटी पर पहले कसा गया है।

उनका कान्तिमान तेजस्वी बदन इस भौतिक युग के विषय- विमुग्ध जीवों को ब्रह्मचर्य का पुनीत आमंत्रण दे रहा है। दिनचर्या इतनी व्यवस्थित कि समय-दर्शक भी उससे हार खाता है। उन्होने भरपूर यौवन में भरापूरा घर छोड़ा, उस तत्व को पाने के लिए, जिसके अभाव में लोक सब कुछ पाकर भी दरिद्र बना रहता है। उसके पीछे उन्होने उपसर्ग झेले, आपत्तियाँ सही, देह को भी नहीं गिना, क्योंकि अनमोल था वह तत्व; उसके बिना मानों जीवन निःसार था। अपने सम्पूर्ण श्रम से उसे पाकर ही रहे। उनमें तत्व प्रतिपादन की अद्भुत् क्षमता है। उनकी वाणी मुक्ति के मूलतत्व वस्तु स्वातन्त्र्य की निर्भय-निशंक घोषणा करती है। लोग उनके द्वारा प्रतिपादित तत्व का विरोध करते हैं, किन्तु विरोध का अहम् लेकर अनेक भाई उनके निकट आते ही झुक जाते हैं।

इस धरा पर उस महापुरुष का अवतरण एक अद्भुत क्रान्ति लाया है। वे युगपुरुष हैं। हम उन्हें युगपुरुष क्यों न

कहें ? वर्तमान युग को उनसे एक नई चेतना मिली है। मुक्ति का पथ प्रशस्त हुआ है। अनादि का सुप्त पुरुषार्थ उनकी कल्याणी वाणी का कोमल स्पर्श पाकर आज सचेत हुआ है। हम आज अपने को पहिचानने के योग्य हुये हैं। लोग तत्व का केवल नाम ही जानते थे और जानते थे उसका बाह्यलक्षण और इतने मात्र से अपने को तत्वज्ञ कहते थे। तत्व का कहीं पता नहीं था। पुण्य ने धर्म का चोला पहन रखा था और वह धर्म के सिहासन पर बैठकर संवर-निर्जरा की सृष्टि करने का साहस कर रहा था। चारित्र बाह्याचार तथा बाह्य वेश की संकुचित सीमा में प्रतिबद्ध हो गया था। निमित्त-उपादान पर छाया हुआ था। कण-कण में पराधीनता की ध्वनि थी और तत्व श्वासें गिन रहा था। सच्चे देव, शास्त्र, गुरु का एक रागात्मक विकल्प ही सम्यग्दर्शन के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया गया था। कौन जानता था कि सात तत्वों में शुद्ध निरपेक्ष, निर्भेद और निर्विशेष तत्व को जीव तत्व कहते हैं और उसी की निर्विकल्प अनुभूति में मंगलमय सम्यग्दर्शन का अवतरण होता है। अनेकान्त तो मानों परस्पर विरूद्ध धार्मिक मान्यताओं का समन्वय करने के लिये एक बौद्धिक प्राणायाम मात्र रह गया था। वह मात्र वाणी का क्रीडास्थल था। जीवन के लिये उसकी कोई उपयोगिता नहीं रह गई थी। सत्य के प्रतिपक्षियों को रिझाने का एक साधन बनाकर उसकी सम्पूर्ण प्रतिष्ठा की ही हत्या कर दी गई थी।

अनेकान्त दर्शन वास्तव में वस्तु के सही अवलोकन की एक सही पद्धति है, सही ज्ञान है। प्रत्येक वस्तु अपने स्वरूप में इस प्रकार प्रतिष्ठित है कि एक से दूसरे में कुछ आता-जाता ही नहीं है। अपना उसमें सब कुछ है और पर का कुछ भी नहीं है। यह स्व से अस्ति और पर से नास्ति ही उसकी अनेक धर्मात्मकता अर्थात ् अनेकान्त है। ऐसे अनैकान्तिक वस्तु स्वभाव को जानने वाला ज्ञान भी प्रमाण अर्थात् अनेकान्त है। वस्तु को अपने भूत, भविष्य, वर्तमान-सम्पूर्ण जीवन के क्रिया-कलापों का एकाधिकार प्राप्त है। किसी भी रूप में वस्तु परमुखापेक्षी नहीं है। वह सतत् अपने क्रिया कलापों में तन्मय है। उसे दूसरे का कुछ करना भी नहीं है, क्योंकि दूसरे का कुछ भी करने की चेष्टा में दूसरे का कुछ होता ही नहीं है। वस्तु का ऐसा स्वरूप ही उसका सौन्दर्य है। अगर एक दूसरे का कुछ करने-धरने की बात सैद्धान्तिक रूप में स्वीकार कर ली जाय तो कर्तृत्व की होड़ में विश्व व्यवस्था ही समाप्त हो जाय। किन्तु विश्व व्यवस्था तो अनादि से जीवित है और अनन्त काल तक जीवित रहेगी, क्योंकि वह स्वयं अनैकान्तिक है। ऐकान्तिक व्यवस्था में अनाचार बढ़ता है, असंतोष और अशान्ति बढ़ती है। देह मेरी है, वाणी मेरी है, जगत मेरा है, चेतना की यह दृष्टि सभी अनाचारों की मूल है। ऐकान्तिक दृष्टि जो अपनी नहीं है उसके लिये, सवेग आगे बढ़ती है, दूसरे की सीमा के अतिक्रमण का उपक्रम करती है, किन्तु कुछ हाथ नहीं

आता; क्योंकि प्रत्येक वस्तु अपने में इतनी परिपूर्ण, साथ ही सुरक्षित है कि उसमें से कुछ नहीं निकाला जा सकता। एक वस्तु दूसरी वस्तु मे जा सके तो ही कुछ आदान-प्रदान संभव है। किन्तु यह तो कभी होता ही नहीं है। वस्तु में न तो एकान्त ही है और न परकर्तृत्व ही है। अज्ञानी की दृष्टि में एकान्त है और परकर्तृत्व है। जैसे एक प्रमत्त हाथी किसी वज्र से मस्तिष्क मारकर लहू-लुहान होकर पीछे भागता है; उसी प्रकार अज्ञानी वस्तु के अविचल उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से टकरा-टकराकर निरन्तर आकुल-व्याकुल होता रहता है। ज्ञानी वस्तु के इस स्वरूप को पहिचानता है अतः वह स्व में ही स्व का निश्चय कर अपने में नास्ति स्वरूप पदार्थों से अपनी वृतियाँ समेटता जाता है। फलस्वरूप राग के बन्धन टूटते जाते हैं। यही मुक्ति है और यही स्वाधीनत्व अनेकान्त का मधुर फल है।

दो विरूद्ध मान्यताओं को एक करना अथवा उनको किसी दृष्टि से सही मानना अनेकान्त नहीं है। एक कहता है "तत्व नित्य है" एक कहता है "अनित्य है"। हमने दोनों को बिना विवक्षा के एक कर लिया, अनेकान्त बन गया। अनेकान्त ऐसी बालक्रीडा नहीं है। वस्तु स्वभाव से ही अस्ति-नास्ति नित्यानित्यादि अनन्त- धर्मात्मक है। उसे एक धर्मात्मक मानने वाली सभी मान्यतायें मिथ्या हैं। जैसे अनन्त असत्यों को मिलाने से एक सत्य नहीं बनता उसी प्रकार अनन्त असत्य मान्यताओं के मिश्रण से अनेकान्त नहीं बन

सकता। वर्तमान में अनेकान्त का सही स्वरूप तथा उसका सही उपयोग-प्रयोग हमें अपने चारित्र नायक पूज्य श्री कानजीस्वामी जैसे महापुरुष से मिला है।

चारित्र के क्षेत्र में लोग उनकी आलोचना भी करते हैं। वे चारित्र धारण क्यों नहीं करते? किन्तु यह प्रश्न करते समय लोग यह भूल जाते हैं कि चारित्र कुछ बाह्य निवृति और कुछ बाह्य प्रवृत्तियों का द्राविड़ी प्राणायाम मात्र नहीं है। वह तो वीतराग निर्विकल्प दशा है। ऐसी वीतरागता कभी बलात् नहीं आती। उसका विकास क्रमशः होता है। वह सिर पर बोझे की तरह लादी नहीं जाती। वह तो, वीतराग निर्विकल्प शुद्ध जीवतत्व के आलंबन तथा उसमें रमणता से उदित होती है। उसके विकास तथा पूर्णता का यही क्रम है। प्रथमानुयोग का सम्पूर्ण साहित्य इसका साक्षी है।

पूज्य श्री कानजीस्वामी सम्यक्त्व की ऐसी अनुपम भूमिका में प्रतिष्ठित हैं। उनका बाह्याचार उससे बहुत आगे है। वे शुद्ध भोजन करते हैं, वे तत्वविचार करते हैं। उन्हे स्थानादि तथा पत्र व्यवहार के विकल्प ही नहीं उठते। उनमें ऐसी अनेक विशेषतायें हैं। किन्तु मात्र कषाय की मंदता तथा लेश्या की विशुद्धता को चारित्र नहीं कहते। चारित्र धारण की उनमें उत्कट अभिलाषा है। वे चारित्रधारी भावलिंगी संतों के दर्शन के लिये तड़पते हैं, आत्म साधक वनवासी

सन्तों का वर्णन करते समय वे आत्मविभोर हो जाते हैं। उस वर्णन में चारित्र के प्रति उनकी भक्ति, उल्लास तथा उत्साह दर्शनीय होता है।

शताब्दियों के बाद भी उनकी वाणी में कुन्दकुन्दादि महान संतों की पावन वाणी का रसास्वाद आता है। सर्वार्थसिद्धि सी स्वर्णपुरी का कण-कण आज चैतन्य गीतों से मुखरित हो रहा है। संतों की वाणी के रहस्य का उद्घाटन आज सोनगढ़ के एकान्त में कर रहे हैं। वायु की तरंगो द्वारा आकाशवाणी की भांति आज उसका प्रसार हो रहा है। आज सोनगढ़ विश्व में अध्यात्म विद्या का एक मात्र केन्द्र है। उसे यदि हम अध्यात्म विश्वविद्यालय कहें तो अनुचित न होगा। जड़ता के दास्य की अनादिकालीन श्रृंखलाओं को क्रीडामात्र मे छिन्न-भिन्न करने का एक मात्र साधन आज हमें इस महापुरुष के रूप में अनायास ही मिला है। सातिशय पुण्यशील किन्तु पुण्य के अतिशयों से अप्रभावित इन सर्योदयी युग नेता से आज सारा ही विश्व उपकृत हो रहा है।

मैं अपनी शत सहस्त्र श्रद्धांजलियाँ उनके चरणों में चढ़ाता हूँ।

पू. गुरुदेव श्री के 75 वें जन्मोत्सव पर लिखित

भरत - बाहुबली

प्रथम दृश्य

स्थान- पोदनपुर का निकटवर्ती प्रदेश।

(महाराज भरत का दरबार। षट्खण्डाधिपति महाराज भरत राजसी वस्त्रों में सुशोभित सिंहासन पर विराजमान हैं। सामने अमात्यगण बैठे हैं।)

भरत- अब इन विजयोत्सवों से मैं थक गया हूँ, अमात्य! हृदय विश्राम चाहता है।

बासन्तक- विश्राम! जीवन में विश्राम ही कहाँ है सम्राट! संघर्ष तो क्षत्रिय का सहोदर है। इसका जन्म ही उसके साथ होता है फिर अभी तो स्वयं चक्ररत्न भी विश्राम नहीं चाहता। विजय का जो व्रत लेकर हम निकले हैं उसे तो पूरा करके ही लौटना चाहिए। अभी महाराज बाहुबली भी तो नमस्कार करने नहीं पधारे, इसी से तो चक्ररत्न रुक गया है।

भरत- विजय का व्रत! अरे! वह हिंसा का ही तो दूसरा नाम है, पारस्परिक कलह से बचने के लिए पिता सभी सहोदरों में राज्य का जो विभाग कर गये थे। आज मैं उससे संतुष्ट न होकर सहोदरों के मुँह का ग्रास भी झपटने के लिए तैयार हूँ। क्या सीमा है इस पाप की ? हाँ! अब मैं समझ

गया कि विश्व में क्राँति का सूत्रपात क्यों होता है?

मागध- षट्खण्डाधिपति सम्राट भरत के विरुद्ध क्रांति करने की सामर्थ्य आज किसमें है महाराज!

भरत- क्रांति की सामर्थ्य! मेरा हृदय स्वंय मेरे विरुद्ध क्रांति कर रहा है अमात्य! पिता के द्वारा कोमल कली की तरह पाले गये प्यारे सहोदर आज मेरी ही राज्य लिप्सा से संत्रस्त होकर वन चले गये हैं। मेरा यह वज्र हृदय फटकर अपना अर्जित पाप उनके चरणों में क्यों नहीं बिखेर देता?

दक्षिणांक- महाराज! क्षुब्ध न होइये। आत्म-विद्या में आप पारंगत हैं। अपने अनंत गुणों के गहरे सागर में डुबकियाँ लगाते-लगाते आप उस अवस्था में पहुँच गये हैं जहाँ विश्व की विभूति धूल सी भासित होने लगती है, किन्तु स्वामिन्! षट्खण्ड के बिखरे हुये शासन का सूत्र अपने हाथ में लेकर व्यवस्था स्थापित करना भी तो चक्री का ही कर्त्तव्य होता है। चक्ररत्न का बाहुबली की सीमा में आकर रुक जाना इसी बात का प्रमाण है।

भरत- किन्तु अमात्यवर! बाहुबली मुझे अर्ककीर्ति से भी अधिक प्रिय है। यदि मेरा संदेश पाकर वह भी अन्य सहोदरों की भांति दीक्षा के लिये निकल पड़े, तो क्या मैं छोटी माँ के समक्ष अपना कलंकित मुँह दिखा सकूँगा?

दक्षिणांक- महाराज! आप चिंता न कीजिये। मैं स्वयं इस कार्य को सम्पन्न करने का संकल्प करता हूँ और मुझे विश्वास है कि मैं शीघ्र ही महाराज बाहुबली को यहाँ लाने में समर्थ हो सकूँगा, आप निश्चिन्त रहें।

भरत- दक्षिणांक! मेरा हृदय साक्षी नहीं देता। बाहुबली को मैं बाल्य से ही जानता हूँ। उसका हठ इस चक्र के हठ से किसी भी प्रकार कम नहीं है।

दक्षिणांक- महाराज! आपके चरणों के प्रसाद से मैं अब तक विषमतम राजनीतिक कुचक्रों में पड़कर भी असफल नहीं हुआ हूँ। फिर यह कार्य तो इतना कठिन नहीं है। स्नेह-सिक्त सहोदरों के हृदय का मिलन! भला बताइये यह क्या बड़ा काम है।

भरत- किन्तु अमात्य! मुझे अपने इस संदेश में अभिमान एवं भाई के अपमान की गंध आती है।

दक्षिणांक- महाराज! बड़े भाई के संदेश में छोटे भाई के अपमान की गंध! बहुत गहरे उतर गये हैं सम्राट? ये दो सहोदरों के कोमल हृदय हैं सम्राट! जिनका मिलन इतना सरल है, जितना गीली मिटटी के टूटे हुये खिलौने को फिर से जोड़ देना। यह नदी के दो किनारे नहीं हैं, जिनका जीवन में कभी सम्मिलन नहीं होता।

भरत- दक्षिणांक! तुम अत्यन्त प्रवीण हो, तुम्हारे वाक्-चातुर्य की मैं कहाँ तक प्रशंसा करूँ। मुझे तुम पर

विश्वास है, जाओ।

(दक्षिणांक नमस्कार करके जाता है)

भरत- अमात्य-वृन्द! आज बहुत समय हो गया है, अब आप विश्राम करें।

(सब चले जाते हैं)

-पटाक्षेप-

द्वितीय दृश्य

स्थान- पोदनपुर का राजप्रासाद।

(महाराज बाहुबली अपने मंत्रणागृह में एकाकी बैठे किसी विचार में मग्न हैं। प्रासाद के तोरणद्वार पर द्वारपाल खड़ा है, सहसा एक अपरिचित का प्रवेश।)

द्वारपाल- कौन हो तुम ? कहाँ बढ़े जा रहे हो ?

अपरिचित- मैं महाराज बाहुबली का चरण-चंचरीक विश्वासपात्र चर हूँ।

द्वारपाल- तुम महाराज के चरण-चंचरीक कबसे बने ? महाराज का अति-पुराना, अति-प्रिय और अति विश्वासपात्र चर तो मैं हूँ, मैंने तो तुम्हें आज ही देखा है। एक अपरिचित को प्रवेश की आज्ञा नहीं मिल सकती। यह महाराज की गुप्त-मंत्रणा का समय है। तुम नहीं जा सकते।

अपरिचित- मुझे महाराज को एक अत्यन्त महत्वपूर्ण सूचना देनी है। वह सूचना महाराज को अविलम्ब मिलनी चाहिये, अन्यथा भारी अनिष्ट की सम्भावना है।

द्वारपाल- इन बातों में कुछ नहीं रक्खा। तुम मुझे फुसलाकर भीतर नहीं जा सकते।

अपरिचित- भाई सच मानों, मैं महाराज का चर हूँ। मुझे इस समय महाराज से मिलना ही चाहिये, अन्यथा भारी अनिष्ट होगा, जिसका फल तुम्हें और हमें भी भोगना पड़ेगा। यदि प्रमाण चाहते हो तो यह लो (अंगूठी देता है)।

द्वारपाल- अच्छा जाओ।

(अपरिचित प्रासाद में प्रवेश कर महाराज बाहुबली के सन्मुख पहुँचता है।)

चर- महाराज की जय हो! एक अत्यन्त आवश्यक कार्यवश मुझे यहाँ आना पड़ा है।

बाहुबली- बैठो सुमेरु! कहो क्या कहना चाहते हो ?

चर- आपके ज्येष्ठ भ्राता महाराज भरत सेना सहित नगर के बाहर विश्राम कर रहे हैं, आज मैं वेश बदलकर, घूमते-घूमते उधर जा निकला, तो महाराज भरत के दो सैनिक गुप्त चर्चा कर रहे थे कि उनका एक अत्यन्त विश्वस्त और वाग्विदग्ध अमात्य आपकी सेवा में आ रहा है। वह

आपको भरत के पास ले जाने का इसलिये भरसक प्रयास करेगा कि आप जाकर उन्हें नमस्कार करें, क्योंकि आपके नमस्कार के बिना चक्र-रत्न आगे नहीं बढ़ सकता।

बाहुबली- सुमेरु! मैं तुम्हारी कर्त्तव्य-निष्ठा पर बहुत प्रसन्न हूँ। यह समाचार देकर तुमने राज्य की बड़ी भारी सेवा की है। तुम्हारी यह सेवा अवश्य पुरस्कृत होगी, जाओ! (प्रस्थान)

(दो चरों का प्रवेश)

दोनों- महाराज की जय हो!

बाहुबली- बोलो, राज्य के क्या समाचार हैं?

प्रथम चर- महाराज! सम्पूर्ण राज्य में शांति है। प्रजाजन ही क्या, पक्षी भी अपने कल-कण्ठों से सुमधुर कलरव करते हुए गगन में स्वच्छंद विचरण करते हैं।

द्वितीय चर- हर ओर आपकी सुचारु शासन-व्यवस्था के ही गीत गाये जाते हैं। राज्य के प्रत्येक विभाग से प्रजाजन संतुष्ट हैं। सभी पदाधिकारी प्रजा के सुख-दुःख का पूर्ण ध्यान रखते हैं।

बाहुबली- अन्न-वस्त्र की कोई कमी तो नहीं है?

प्रथम चर- नहीं महाराज! अन्न और वस्त्र से प्रजाजन

पूर्ण सन्तुष्ट हैं।

बाहुबली- कहीं कोई हिंसक विधान देखने में आया?

द्वितीय चर- नहीं महाराज! सम्पूर्ण प्रजा इतनी सात्विक तथा धर्मनिष्ठ है कि सर्वत्र तात्विक चर्चा ही सुनने में आती है।

बाहुबली- उत्कोच की कोई शिकायत?

प्रथम चर- उत्कोच! यह तो शासन व्यवस्था का पहला दोष है। महाराज! जिस राज्य में उत्कोच स्वीकार करने वाले राक्षस होते हैं, उनका पतन अवश्यम्भावी है।

बाहुबली- तुमने कोई अन्य वार्ता भी सुनी है?

द्वितीय चर- नहीं महाराज! सर्वत्र सुख और शांति के संवाद ही सुनाई पड़ते हैं।

बाहुबली- अच्छा तुम दोनों जा सकते हो। (प्रस्थान)

(द्वारपाल का प्रवेश)

द्वारपाल- महाराज की जय हो, महाराज! भरत के अमात्य एक संदेश लेकर पधारे हैं।

बाहुबली- कौन? महाराज भरत के अमात्य? अच्छा आने दो।

(द्वारपाल का प्रस्थान, भरत के अमात्य दक्षिणांक का प्रवेश)

दक्षिणांक- महाराज की जय हो! महाराज भरत का मांगलिक संदेश लेकर उपस्थित हुआ हूँ।

बाहुबली- आओ दक्षिणांक बड़े दिनों में आये, क्या कभी तुम्हें हमारी याद भी नहीं आती? कहो क्या आज्ञा है महाराज भरत की?

दक्षिणांक- स्वामी! महाराज भरत षट्खण्ड को विजय करके अयोध्या की ओर लौट रहे हैं, मार्ग में सेना सहित पूज्य पिताजी एवं मातुश्री के दर्शन कर नेत्र तृप्त किये। अब आपसे मिलने के लिये स्नेह की सरिता उमड़ रही है।

बाहुबली- भाई ! तुम्हारे स्वामी की हम पर बड़ी अनुकम्पा है।

दक्षिणांक- महाराज ! महाराज भरत अत्यन्त उदार है। सम्पूर्ण सेना का आग्रह भी वे नहीं टाल सके। हम लोगों ने महाराज से प्रार्थना की कि जब महाराज बाहुबली अयोध्या पधारेंगे तब हमें आप दोनों भ्राताओं का सम्मिलन देखने का सुयोग कैसे प्राप्त होगा? राजमहल में आपकी स्नेहासिक्त वार्ता को हम अभागे क्यों कर सुन सकेंगे? चक्रवर्ती और कामदेव का अनूठा सम्मिलन देखने के अभिलाषी ये नेत्र तड़फते ही रह जायेंगे।

बाहुबली- हाँ दक्षिणांक ! ठीक कहते हो। कमल-पत्र पर पड़ी हुई पानी की बून्दें मोती की शोभा को धारण कर

लेती हैं। सेना महाराज भरत की है, अतः अवश्य ही अनूठे मानवीय गुणों से अलंकृत होना चाहिये। लेकिन दक्षिणांक! मैं इस समय अत्यधिक व्यस्त हूँ कुछ समय उपरान्त अयोध्या आकर पूज्य मातुश्री एवं पूज्य सहोदर के दर्शन करूँगा।

दक्षिणांक- महाराज! सम्पूर्ण सेना की अभिलाषा वर्षा के अभाव में नवांकुर की भांति मुरझा जायेगी। आप दोनों भ्राताओं का विनोद हम किंकरों ने अब तक नहीं देखा है। आपकी अस्वीकृति से हम सभी की कोमल भावनाओं पर वज्रपात होगा।

बाहुबली- ठीक है, किन्तु इस समय अवकाश नहीं मिल सकेगा।

दक्षिणांक- महाराज! सेवकों की इच्छा है, उसका निर्वाह करना स्वामी पर ही निर्भर होता है। अयोध्या पधारने के लिये तो अधिक अवकाश की आवश्यकता है, महाराज! हमारी अभिलाषा तो थोड़े से अवकाश से ही पूरी हो जायेगी। महाराज भरत पोदनपुर के निकट ही विश्राम कर रहे हैं।

बाहुबली- हाँ! हाँ!! विश्राम स्थल तो अत्यन्त निकट है किन्तु शासन का भार इस समय इतना बढ़ गया है कि जब सम्पूर्ण नगर निद्रा की गोद में विश्राम करता है तब मैं रात्रि की विभूति के रक्षक की भांति उसके अनंत तारों की गणना

करता हूँ।

दक्षिणांक- नहीं स्वामी। मेरी सम्पूर्ण आशा व विश्वास पर पानी न उड़ेलिये। मैं महाराज भरत को मुँह नहीं दिखा सकूँगा। अपने बड़े भाई के दर्शन करना भी जीवन के महत्वपूर्ण कार्य का ही एक अंग है।

बाहुबली- दक्षिणांक ! तुम अपने कार्य की सिद्धि में अत्यन्त निपुण हो राजनीतिज्ञ भरत का अमात्य राजनीतिज्ञ ही होना चाहिये। तुम अपनी वार्ता में जिस बात को अब तक छिपाते रहे हो उसके रहस्य का उद्घाटन मेरे समक्ष तुम्हारे आगमन से पूर्व ही हो चुका है। क्या तुम्हें इसका पता है ?

दक्षिणांक- महाराज ! दो सहोदर, जिन्होंने समान रूप से माता-पिता का स्नेह-सलिल लूटकर अपने मानससरोवर में संग्रहीत किया हो, उनके सम्मिलन में भी कोई रहस्य हो सकता है ? यह बात मेरे लिए ही नहीं संसार के बड़े-बड़े नीतिज्ञों के लिये भी नयी प्रतीत होगी।

बाहुबली- जहाँ तक माता-पिता के दुलार का सम्बन्ध है यह बात उतनी ही पुरानी है जितनी यह सृष्टि। किन्तु चतुर दक्षिणांक जहाँ वैभव के त्याग की बात है, यह बात उतनी ही नयी है जितनी एक नवदम्पत्ति की अतृप्त वासना।

दक्षिणांक- महाराज! आपके अपार, अगाध बुद्धि-सागर

को मेरे सदृश छुद्र जन्तु कैसे तिर सकता है ? किन्तु स्वामी! हमारी सूखी हुई भावना-लतायें आपके सम्मिलन से लहलहाने लगेंगी, हमारा तृषा-संतप्त हृदय पक्षी चहकने लगेगा और एक सबसे बड़ी बात तो यह होगी कि छोटे भाई के द्वारा बड़े भाई की मर्यादा की रक्षा की जो आदर्श परम्परा चली आ रही है उसकी रक्षा हो सकेगी।

बाहुबली- छोटे भाई के द्वारा बड़े भाई की मर्यादा की रक्षा ? यह कैसी अनहोनी बात कर रहे हो दक्षिणांक ? फिर इस समय क्या वे हमारे बड़े भाई हैं ? सेना के सामने एक किंकर की भांति मुझे बुलाने वाले वे मेरे स्वामी हैं या बड़े भाई ? तुम मुझे बच्चों की तरह फुसलाने का प्रयत्न कर रहे हो ?

दक्षिणांक- आप यह क्या कह रहे हैं, महाराज ! चक्रवर्ती की हार्दिक इच्छा यहाँ रुकने की अधिक भी नहीं थी, किन्तु आपके सदृश कामदेव के दर्शन करने की हमारी उत्कट अभिलाषा को वे न टाल सके। महाराज ! क्या आप हमें अपनी दया का पात्र नहीं बनायेंगे। क्या यह हमारे पाप की पराकाष्ठा नहीं होगी।

बाहुबली- मेरी दया की भिक्षा लेकर पुण्यवान बनने का दंभ करने वाले दक्षिण! पाप की परिभाषा अपने हृदय से पूछो। मेरे स्वतन्त्र राज्य की सीमा में आकर चक्र सहसा रुक

गया है कि मुझे भी अन्य शक्तिहीन राजाओं की भांति पराधीन बनाया जाय। इसलिए तो नगर के बाहर भरत ने सेना सहित पड़ाव डाला है। तुम अपने चातुर्य के बल पर मेरे प्रवंचन का प्रयास कर रहे हो। क्या बोलो, इसकी सत्यता में सन्देह है?

दक्षिणांक- इसकी सत्यता में सन्देह उपस्थित करने की सामर्थ्य मुझमें नहीं है, किन्तु चक्ररत्न को भी दो सहोदरों का अनूठा सम्मिलन देखने की इच्छा हुई है। सम्राट ने उसे ताड़ना दी, बलपूर्वक आगे बढ़ाने का प्रयास किया किन्तु सभी अपमानों को वह महालोभी की भांति पीकर बैठा है।

बाहुबली- दक्षिणांक ! मेरा हृदय तुम्हारे कौटिल्य का दर्पण है, इसे भूलकर तुम मेरे समक्ष अपनी प्रतिष्ठा एवं मर्यादा की हानि कर रहे हो। क्या तुमने अपना सारा जीवन राजनीतिक कुचक्रों में नष्ट कर दिया है?

दक्षिणांक- यह राजनीतिक कुचक्र नहीं महाराज ! राजनीतिक कुचक्रों का सम्बन्ध मस्तिष्क से होता है हृदय से नहीं। यह हम लोगों के हृदय की सच्ची अभिलाषा है राजनीतिक कुचाल नहीं। सम्राट की उदारता से जितना मैं परिचित हूँ उतना शायद संसार का कोई व्यक्ति नहीं। वे अनेक बार अपना आधा राज्य आपको अर्पित करने की इच्छा मुझे प्रगट कर चुके हैं।

बाहुबली- पिता के द्वारा जितना राज्य मुझे सहर्ष दिया गया है, मैं उससे सन्तुष्ट हूँ। राज्य का प्रलोभन देकर किसी के स्वाभिमान को खरीद लेने का व्यापार करने वाले दक्षिणांक ! मेरे हृदय को परखने की चेष्टा मत करो, तुम्हारे हृदय की अभिलाषाओं में कितनी सच्चाई है? क्या इसका उत्तर स्वयं तुम्हारा हृदय भी दे सकेगा?

दक्षिणांक- महाराज ! सम्राट भरत के सहोदर को उत्तर देना इस अकिंचन की क्षमता नहीं है। मैं तो चरणों में मस्तक रख कर विनम्र विनती करता हूँ।

बाहुबली- गुणों के आगे मेरा हृदय स्वयमेव झुक जाता है दक्षिण! किन्तु मुझे बलपूर्वक अपने चरणों में झुकाने का तुम्हारे स्वामी का सपना असत्य सिद्ध होगा। श्रेष्ठ माता के सपूत को एक किंकर की भांति बुलावा देना क्या उसका तिरस्कार नहीं है?

दक्षिणांक- महाराज ! हमारे स्वामी अपने मन्त्रियों को साधारण व्यक्तियों के पास नहीं भेजा करते, इसमें स्वयं उनकी प्रतिष्ठा की हानि होती है। महाराज ! मेरे आगमन के समय सम्राट के मन्त्रियों ने आपकी सेवा में अनेक प्रकार की बहुमूल्य भेंटें भेजी हैं।

बाहुबली- तुम्हारे स्वामी तुम्हें साधारण व्यक्तियों के पास नहीं भेजते तो वे तुम्हें असाधारण व्यक्तियों के समीप

इसलिए भेजते हैं कि तुम उन पर कुचक्रों का जाल फैलाओ। अनेक भयावह सन्देश भेजकर छोटे भाईयों को तो वनवास दे दिया है, किन्तु मेरी शक्ति का विचार करके तुम्हारे सदृश चतुर अमात्य को मुझे फंसाने के लिये भेजा है। अपनी चाटुकारिता से बाज आओ दक्षिण। मेरी क्रोधाग्नि अधिक प्रज्वलित नहीं करो, बस यहाँ से चले जाओ।

दक्षिणांक- स्वामी ! मैं जा रहा हूँ, मुझे क्षमा कीजिये

(प्रस्थान)

(गुणवसंत एवं कलकंठ का प्रवेश, वे नमस्कार कर बैठ जाते हैं।)

बाहुबली- गुणवसंत ! भरत के अमात्य दक्षिणांक से तुम्हारी भेंट हुई है ?

गुणवसंत- महाराज ! उनकी आंखों से अविरल अश्रुपात हो रहा है, गला रुंध गया है, अतः उनसे वार्तालाप न हो सका।

बाहुबली- वह चक्रवर्ती भरत का सन्देश लेकर हमारे समीप आया था कि मैं जाकर नमस्कार करूँ, क्योंकि वे मुझसे बड़े हैं। क्या नमस्कार उचित है, कलकंठ ?

कलकंठ- महाराज ! विनय एवं सम्मान के अनुरोध से तो छोटे भ्राता का बड़े भाई को नमस्कार सर्वथा उचित ही है, किन्तु जहाँ तक राजनीति का सम्बन्ध है, यह नमस्कार हमें उसके सिद्धांतों से गिरा देगा।

बाहुबली- मैंने स्वयं अस्वीकार कर दिया है।

गुणवसंत- ठीक है कलकंठ ! जाओ और दक्षिणांक को पुनः बुलाकर लाओ (प्रस्थान)

बाहुबली- (गुणवसंत से) सम्राट को सन्देश भेज दिया जाय कि वे अपनी सेना सहित तैयार रहें।

गुणवसंत- राजनीति तो यही है महाराज ! यह लोकनीति नहीं कि मनुष्य हर किसी के समक्ष विनय से झुक जाय।

(कलकंठ एवं दक्षिणांक का प्रवेश)

बाहुबली- (दक्षिणांक से) दक्षिण ! सुनो, मैं समझ गया हूँ कि तुम्हारे स्वामी हम पर आक्रमण किये बिना न रहेंगे किन्तु युद्ध यहाँ नहीं, युद्ध वहीं होगा जहाँ तुम्हारी सेना ने पड़ाव डाल रखा है। तुम्हारे स्वामी को षट्खंड जीतने का अभिमान है उसका प्रदर्शन वे इस कामदेव के सामने रखना चाहते हैं, जाकर कह दो कि इसका निर्णय रणक्षेत्र में होगा। वे अपनी सेनायें सुसज्जित रखें।

दक्षिणांक- जो आज्ञा महाराज ! (दक्षिणांक का नमस्कर करके प्रस्थान)

-: पटाक्षेप :-

तृतीय दृश्य

(महाराज भरत का दरबार ! दो अमात्य सामने बैठे हैं।)

भरत- बासन्तक ! बाहुबली की ओर से क्या समाचार हैं ?

बासन्तक- सम्राट! महाराज बाहुबली के हठ एवं अभिमान से आप और हम सब परिचित हैं आपके सन्देश की निर्मल धारा उनके पाषाण हृदय पर उसी तरह नहीं टिक सकेगी, जैसे तपते तवे पर जल की बूँदें।

भरत- तो दक्षिणांक अभी नहीं आये ?

मागध- नहीं महाराज ! आ ही रहे होंगे।

(द्वारपाल का प्रवेश)

द्वारपाल- महाराज की जय हो ! अमात्यवर दक्षिणांक पधार रहे हैं।

भरत- जाओ, आने दो।

(द्वारपाल का प्रस्थान, दक्षिणांक का प्रवेश। वह अत्यन्त उदास, नतमस्तक, झुककर नमस्कार करता है।)

भरत- आओ दक्षिणांक ! कुशलतापूर्वक लौटे हो न ?

दक्षिणांक- महाराज ! मैं आपके समक्ष मुँह दिखाने

योग्य नहीं हूँ, आपके चरणों में जो संकल्प लेकर मैं पोदनपुर गया था, वह पूर्ण नहीं हो सका है। धिक्कार है उस सेवक को जो स्वामी के कार्य की सिद्धि के बिना ही लौट आया है।

भरत- दक्षिण ! इसमें क्षोभ की कोई बात नहीं है। कार्य की सिद्धि पर हमारा कोई अधिकार नहीं है, किन्तु उसकी सिद्धि के लिए भरसक प्रयत्न करना हमारा अधिकार और कर्त्तव्य है। क्या बाहुबली को अनुकूल बनाने में तुम्हारे प्रयत्न में कोई कमी रही ?

दक्षिणांक- सम्राट ! उनको अनुकूल बनाने में मैंने कोई कसर नहीं उठा रक्खी। स्वामी मैंने अतिविनयपूर्वक राजनीति, धर्मनीति एवं लोकनीति से हर प्रकार उन्हें यहाँ लाने का प्रयत्न किया। आपमें और उनमें कोई भेद न रखकर भक्ति की पराकाष्ठा कर दी। जिन लोगों ने मेरी वार्ता सुनी सबके हृदय मोम की भांति पिघलकर पानी हो गये, किन्तु महाराज बाहुबली के पाषाण ह्रदय को समझने में मैं सर्वथा असमर्थ रहा। मेरी सफलता के इतिहास में यह बात कलंक बन कर मेरे हृदय में कांटे की भांति कसक उत्पन्न करती रहेगी।

भरत- इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं है दक्षिण। बाहुबली के हठ एवं अभिमान से मैं अच्छी तरह से परिचित हूँ, आज वह बड़े भाई को नमस्कार करने में अपना अपमान समझने लगा है। एक छोटे से राज्य का ऐसा अभिमान ! धिक्कार

है उसकी बुद्धि की जड़ता को !! और भी कोई समाचार है ?

दक्षिणांक- महाराज ! एक बार गहरी ताड़ना देकर उन्होंने मुझे लौटा दिया, पश्चात पुनः कलकंठ को बुलाने के लिये भेजा। मैं पुनः उनकी सेवा में उपस्थित हुआ। बाहुबली कहने लगे कि "मैं समझ गया हूँ कि तुम्हारे स्वामी हम पर आक्रमण किये बिना न रहेंगे, किन्तु उन्हें यहाँ आने की आवश्यकता नहीं है। मैं स्वयं आकर उनसे मिलूँगा। उन्हें षट्खण्ड जीतने का अभिमान है। उनसे कह देना इसका निर्णय रणक्षेत्र में होगा, अपनी सेनायें सुसज्जित रखें। इतना कहकर उन्होंने अपने मन्त्रियों को आज्ञा दी कि भरत का कोई भी व्यक्ति मेरे नगर की सीमा में पैर न रखने पावे।"

भरत- मैं उसके अभिमान को एक क्षण में मिट्टी के खिलौने की भांति टूक-टूक कर दूँगा। वह समझता है कि उसका शरीर मुझसे अधिक ऊँचा है, किन्तु मैं एक ही अंगुली में उसे चक्र की भांति घुमा दूँगा। किन्तु मुझे विचार आता है दक्षिण! छोटे भाई पर शक्ति का प्रदर्शन धर्मनीति के कहाँ तक अनुकूल है ? क्या संसार की दृष्टि में मेरा यह कार्य उचित होगा ? सोचता हूँ, यदि भाई के स्थान पर कोई दूसरा होता तो केवल अपने भृकुटिविक्षेप से उसे यमलोक पहुँचा देता किन्तु सहोदर के हृदय को इस तरह से त्रस्त करना कहाँ तक उचित होगा ? वह नादान है तो क्या मैं भी अपने विवेक

का परित्याग कर दूँ। अमात्य वृन्द ! आप लोग चिन्ता न कीजिये, मैं किसी भी प्रकार से उसे जीत लूँगा। दक्षिण ! उठो और अपना यह पुरस्कार स्वीकार करो।

(पुरस्कार देते हैं)

दक्षिणांक- (खड़ा होकर नमस्कार करता है और कहता है) सम्राट! मैं इसके सर्वथा अयोग्य हूँ, मेरा हृदय साक्षी नहीं देता।

भरत- नहीं दक्षिण! इसे मेरा आग्रह समझकर स्वीकार करो। कुछ अन्यथा विचार मत करो और सम्पूर्ण चिन्ता और विषाद से मुक्त होकर विश्राम करो। (दोनों मन्त्रियों की ओर झुककर) अमात्यवर! अब हम लोग विश्राम करें। चलिये।

(सब का प्रस्थान)

-:पटाक्षेपः-

चतुर्थ दृश्य

(दो विद्याधर रात्रि को शयन कक्ष में विश्राम कर रहे हैं। अचानक दोनों की नींद खुल जाती है और अर्द्ध रात्रि को दोनों वार्तालाप प्रारम्भ करते हैं।)

प्रथम- भाई! करवट बदलते-बदलते आधी रात हो गई। आज तो नींद ही नहीं आती।

द्वितीय- भाई! मेरा भी यही हाल है। सर्वत्र सन्नाटा छाया हुआ है। वृक्ष का एक पत्ता भी नही हिलता।

प्रथम- भरत की सारी सेना तरंग रहित समुद्र की भाँति निद्रादेवी की गोद में विश्राम कर रही है। पक्षी अपने घोसलों में सोये हुये हैं, केवल हम दोनों रात्रि के प्रहरी की भाँति जाग रहे हैं।

द्वितीय- अरे नहीं! नहीं! तुम मेरी बात समझते ही नहीं। तुम तो उसे यों उड़ा देते हो जैसे एक तिनके को भीषण आंधी।

प्रथम- अच्छा भाई! कुछ कहो तो... या यूँ ही भूमिका बांधते रहोगे।

द्वितीय- अच्छा सुनो! एक-एक बिन्दु मिलकर बड़ा भारी सागर बनता है, एक-एक तार मिलकर मोटी रस्सी बन जाती है।

प्रथम- और एक-एक ईंट से मिलकर बड़ा भव्य भवन खड़ा हो जाता है।

द्वितीय- हाँ ठीक, बिल्कुल ठीक। इसी प्रकार चक्रवर्ती की महिमा बड़ी है। सेना न हो तो कोई चक्रवर्ती की बात भी न पूछे।

प्रथम- हाँ भाई! मैं समझ गया कि यह दुनियां वास्तव में कितनी पागल है। लड़ती सेना है और कहती है राजा लड़ रहा है। जीत सेना की होती है और कहती है राजा जीता।

द्वितीय- वाह भाई वाह! मैं तो समझता था कि तुम भी गोबर-गणेश ही हो, पर तुम तो बड़े बुद्धिमान निकले। अब मेरी बात सुनो-हाथी, घोड़ा आदि सेनाओं को संग्रह करके चक्रवर्ती दुनियां के सामने बड़े शक्तिशाली बन बैठे हैं, पर सेना न हो तो वे भी हमारी ही तरह साधारण से मनुष्य ही तो हैं। क्या अन्तर है उनमें और हम में?

प्रथम- कुछ अन्तर नहीं भाई! पर दुनियाँ तो दोगली होती है, चींटी तो उधर ही जाती है, जिधर गुड़ होता है। तुम और हम भी तो विद्याधर हैं, अपनी शक्ति कौन चक्रवर्ती से कम है।

द्वितीय- बस ठीक है, बिलकुल ठीक! अब तुम पूरी तरह समझ गये हो। अच्छा तो अब रात्रि बहुत हो गयी, थोड़ी झपकी ले लें।

प्रथम- अरे! झपकी लेने चले, पर यह बात अगर चक्रवर्ती ने सुन ली होगी तो?

द्वितीय- अरे नहीं सुना, चक्रवर्ती अपने महल में सो रहे हैं, यहाँ कहाँ अपनी बात सुनने आ गये। जैसे हमारे कान हैं वैसे उनके कान हैं। तुम तो पांव पसार कर बेफिक्री से सो जाओ।

(दोनो ओढ़कर सो जाते हैं।)

-: पटाक्षेप :-

पंचम दृश्य

(भरत का दरबार– महाराज भरत राजसिंहासन पर राजसी वस्त्रों से सुशोभित बैठे हैं, मन्त्री, मित्र, प्रजाजन आदि भी यथास्थान बैठे हैं।)

पहला मंत्री (बासन्तक)– महाराज! आपने हमें आदेश दिया था कि बाहुबली के सम्बन्ध में किसी प्रकार की चिन्ता न करना। सो हम तो चिन्तामुक्त हो गये हैं, किन्तु आप ही बहुत चिन्ताग्रस्त प्रतीत हो रहे हैं।

भरत– अमात्यवर! मुझे बाहुबली की तनिक भी चिन्ता नहीं है, किन्तु आज रात को निद्रा में कनिष्ठा अंगुली की नस अकड़ गयी है, अतः अंगुली सीधी ही नहीं होती।

दूसरा मंत्री (मागध)– महाराज! संसार में अधिकांश लोगों के शरीर और व्यवहार में वक्रता होती है, किन्तु आपके तो शरीर और व्यवहार में किसी भी प्रकार की वक्रता नहीं है। यह अंगुली का टेढ़ापन हमें आश्चर्य में डाल रहा है।

बासन्तक– महाराज! हम आपका कष्ट दूर करने के लिए प्राणों की भी चिन्ता नहीं करते। ऐसे स्वामी की सेवा के लिये अपने-अपने प्राणों को न्योछावर कर देना भी जीवन की सफलता है। जरा अंगुली तो बताइये सम्राट!

(मन्त्री हाथ लगाकर देखता है, अन्य मन्त्री, मित्रादि

एकत्रित हो जाते हैं और सम्राट की अंगुली को हाथ लगाकर देखते हैं, सम्राट अत्यधिक वेदना की चेष्टा करते हैं। मन्त्री बासन्तक दूसरे मन्त्री मागध को आज्ञा देते हैं। मागध जाता है और अंगवैद्यों व राजवैद्यों को बुलाकर लाता है और सम्राट की अंगुली पर औषधि का प्रयोग करते हैं, सम्राट उसी वेदना का अभिनय करते हैं।)

भरत– वैद्यवृन्द! आपकी औषधि कभी किसी रोग पर असफल नहीं होती, किसी चतुर धनुर्धर की भांति रोग आपका निशाना बन जाता है, किन्तु मुझे स्वयं आश्चर्य हो रहा कि इस छोटे से रोग पर ये बड़ी-बड़ी औषधियों के प्रयोग भी क्यों असफल हो रहे हैं और मेरे अंगवैद्य! आज तुम्हें भी क्या हो गया है?

(सभी नतमस्तक हो जाते हैं।)

अमात्यवृन्द ! अब यों काम न चलेगा, सभी मन्त्रवादी एवं पहलवानों को बुला लाओ।

(बासन्तक मागध को आज्ञा देते हैं।)

बासन्तक– मागध! जाओ और सभी मन्त्रवादी और पहलवानों को बुलाकर लाओ।

(मागध जाता है, कुछ समय में मन्त्रवादी और पहलवानों को बुलाकर लाता है।)

भरत- (मन्त्रवादियों से) आप लोगों की प्रबल मन्त्र-शक्तियों की मैंने बड़ी प्रशंसा सुनी है। अब आप मन्त्रों के प्रयोग इस छोटी अंगुली पर आरम्भ कीजिये। (पहलवानों से) और मेरे शक्तिशाली पहलवानों! तुम्हारे प्रबल मुष्ठि-प्रहार से मदोन्मत्त हाथियों के मद भी गल जाते हैं, तो इस छोटी-सी अंगुली को सीधा करना तो तुम जैसे शक्तिशाली लोगों के लिए क्या कठिन काम है? आओ और अपनी सम्पूर्ण शक्ति से सीधा करो।

(पहलवान आते हैं और अंगुली पर बल प्रयोग करते हैं, पर अंगुली सीधी नहीं होती तथा सम्राट वही तीव्र वेदना का अभिनय करते हैं।)

भरत- मन्त्रीवर ! यों काम न चलेगा। तुम एक मोटी लोहे की सांकल तैयार कराओ। मै अंगुली को उससे बांध दूँगा और फिर समस्त सेना एवं प्रजाजन बलपूर्वक सांकल को खीचे, फिर देखता हूँ यह छोटी सी अंगुली कैसे सीधी नहीं होती है?

(बासन्तक विश्वकर्मा को सांकल लाने का आदेश देता है।)

बासन्तक- विश्वकर्मा। जाओ और सांकल लाओ।

(विश्वकर्मा जाकर सांकल लाते हैं, भरत सांकल से अंगुली बाँध लेते हैं, फिर सारी सेना एवं प्रजाजनों को खीचने का आदेश देते हैं, पर अंगुली सीधी नहीं होती।)

भरत- नहीं यह तरीका ठीक नहीं हैं एक काम और करें, मैं सांकल को अपनी ओर खीचता हूँ और आप सब अपनी ओर खीचें, तब तो अंगुली अवश्य ही सीधी हो जायेगी। (सांकल को अपनी ओर खींचते हुये) हाँ! खींचो! अरे! तुम सब का बल कहाँ चला गया? अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर खींचो। (सभी खींचते हैं तथा सबके मुँह से बल प्रयोग की ध्वनि निकलती है, भरत अंगुली को एक बार स्वाभाविक रूप में अपनी ओर खींचते हैं और सभी लोग मुँह के बल गिर पड़ते हैं, भरत हंस देते हैं।)

बासन्तक- महाराज! यह कोई छोटी-मोटी व्याधि नहीं है। यह हम जैसे शक्तिहीन लोगों के बस की बात नहीं है, अब आप ही इसे सीधा कीजिये। दूसरों से यह रोग दूर नहीं होता। (भरत सांकल से अंगुली निकाल कर सीधी कर लेते हैं। लोग आश्चर्य में डूब जाते हैं, सभी सम्राट भरत का जयघोष करते हैं।)

बासन्तक- सम्राट! आपके पराक्रम के आगे आज हम सबका गर्व इस प्रकार चूर हो गया है, जैसे चक्की के दो पाटों के बीच में अनाज पिस जाता है। कृपा करके यह बताइये कि यह लीला करने का अवसर आज क्यों उपस्थित हुआ है?

भरत- मन्त्रीवर! क्या इसका कारण स्पष्ट होना ही

चाहिए? इससे क्या लाभ होगा?

बासन्तक- महाराज! सम्पूर्ण सेना एवं प्रजाजनों की उत्कण्ठा बढ़ रही है, कृपा करके उनकी उत्कण्ठा शांत कीजिये।

(दो विद्याधरों का प्रवेश)

दोनों- चक्रवर्ती सम्राट भरत की जय हो।

भरत- प्रिय विद्याधरों! आओ, कहो आज यहाँ कैसे आना हुआ?

विद्याधर- सम्राट! हमारे अपराध क्षमा कीजिये।

भरत- अपराध! तुमने क्या अपराध किया है भाई?

विद्याधर- महाराज! आपके अतुल पराक्रम का परिज्ञान न होने के कारण हमसे आपकी अवज्ञा हुई। हमें क्षमा कर दीजिये सम्राट!

भरत- तो कल रात्रि के तीसरे पहर उत्तर दिशा की ओर तुम्हीं सारी दुनियाँ को पागल बना रहे थे कि शक्ति तो सेना की ही होती है और दुनियाँ कहती है कि राजा बड़ा शक्तिशाली है। क्या यह तुम्हीं ने कहा था कि सेना न हो तो कोई चक्रवर्ती की बात भी न पूछे?

विद्याधर- हाँ सम्राट! हमने घोर अपराध किया है, हमें

क्षमा कर दीजिये।

भरत- तुम्हें ऐसा अविवेक पूर्ण कार्य नहीं करना चाहिये था। सेना राजा का एक शस्त्र अवश्य होती है, किन्तु उस शस्त्र के संचालन की क्षमता राजा में ही होती है। यदि राजा में पराक्रम न हो तो थोड़े ही समय में शासन-सूत्र ढीला होकर राज्य में अराजकता फैल जाती है।

विद्याधर- यह बिल्कुल सत्य है महाराज! सामान्य राजा ही इतना पराक्रमी होता है फिर चक्रवर्ती की तो बात ही क्या? चक्री तो असाधारण मानव होते हैं। आज आपकी कनिष्ठा अंगुली के कौतूहल प्रदर्शन की चर्चा सुनकर मनुष्य क्या देव भी चकित हो रहे हैं।

(प्रतिहारी का प्रवेश।)

प्रतिहारी- महाराज की जय हो! राजमाता अंगुलि की चर्चा सुनकर अत्यन्त विह्वल हो रही हैं। शीघ्र पधारकर उन्हें सान्त्वना प्रदान कीजिये।

भरत- ठीक है, जाओ, हम आ रहे हैं। अच्छा, अब मैं मातुश्री के शीघ्र दर्शन करना चाहता हूँ। आप सब अपने-अपने स्थान पर पधारकर विश्राम करें।

(सब का प्रस्थान)

षष्ठम दृश्य

(भरत दरबार में मन्त्री एवं मित्रों के साथ बैठे हैं।)

भरत- बाहुबली को अपने बल का कितना अभिमान हो गया है, माता एवं रानियाँ समझा-समझा कर थक गयीं, किन्तु यह कब मानने चला है? क्या विवेक भी रूठ गया उससे?

बासन्तक- सम्राट! अभिमान और विवेक में अग्नि और ईधन जैसी शत्रुता है। भला जिसका पतन अवश्यम्भावी हो वह अभिमान के शिखर पर न चढ़ेगा तो नीचे गिरेगा कैसे?

(एक चर का प्रवेश)

चर- महाराज की जय हो! महाराज बाहुबली युद्ध के लिये पधार आये हैं।

भरत- ठीक है, युद्ध के अस्त्रों के विषय में सुना क्या तुमने?

चर- महाराज! युद्ध कुसुमास्त्रों से नहीं लोहास्त्रों से होगा।

बासन्तक- सम्राट! युद्ध लोहास्त्रों से होगा, किन्तु चक्रवर्ती और कामदेव का तो युद्ध में बाल भी बांका नहीं हो सकता, क्योंकि वे चरम शरीरी हैं। असंख्य सेना का वृथा संहार होगा सम्राट! इस पर विचार होना चाहिये।

भरत- तो तुम्हारी क्या इच्छा है अमात्य?

बासन्तक- महाराज! यदि सेनाओं में लोहास्त्र से युद्ध होगा तो प्रलयकाल के दृश्य उपस्थित होंगे। युद्ध को धर्म का रूप दे दिया जाय ऐसी हम सभी की प्रार्थना है।

भरत- ठीक है, लोकादर्श को गिराने वाले इस सहोदर-युद्ध का फल निरपराध सैनिकों को क्यों भोगना पड़े, दोनों ही सहोदर उसे क्यों न भोगें? किन्तु इसका निर्णय मैं नहीं कर सकता, बाहुबली से जाकर पूछो। वे जो भी निर्णय करें, हमें स्वीकार होगा। मागध! प्रजाजन को लेकर बाहुबली के पास जाओ और शीघ्र ही युद्ध के निर्णय से हमें सूचित करो।

(मागध का प्रस्थान)

बासन्तक- महाराज! सम्पूर्ण सेना एवं प्रजा में युद्ध के समाचार से खलबली मच गयी है। चक्रवर्ती की सेना जिसने कभी यह नहीं जाना कि पराजय क्या होती है, आज युद्ध के नाम से उसे रोमांच हो गया है।

भरत- अमात्य! सैनिकों का तो युद्ध ही जीवन होता है। इसमें भय की कौन सी बात है? फिर चक्रवर्ती की सेना को तो पराजय की कल्पना भी नहीं करनी चाहिये।

बासन्तक- पराजय की कल्पना भी तो मानसिक पराजय है सम्राट! किन्तु भाई-भाई का यह युद्ध न्यायोचित नहीं है महाराज! भीषण रक्तपात होगा ही, किन्तु सबसे बड़ा

दुष्परिणाम तो यह होगा कि लोक में भ्रातृ-स्नेह की पावन परम्परा ही समाप्त हो जायेगी।

(मागध का प्रवेश)

भरत- कहो मागध! सकुशल लौट आये, क्या निर्णय किया बाहुबली ने?

मागध- स्वामी! महाराज बाहुबली ने धर्मयुद्ध सहर्ष स्वीकार कर लिया है। प्रथम दृष्टि-युद्ध होगा, दूसरा जल-युद्ध एवं तीसरा मल्ल-युद्ध होगा।

(सब चले जाते हैं, केवल भरत रह जाते हैं।)

भरत- (स्वगत) सहोदर के साथ धर्म-युद्ध भी कैसे किया जाये। उसके हाथ पैर बाँधकर छोटी माँ के पास क्यों न भेज दूँ? नहीं! नहीं! सेना के सामने अपना अपमान देखकर वह घर में नहीं रहेगा, दीक्षा के लिये निकल जायेगा। अन्य सहोदरों की भाँति इसको भी खोना पड़ेगा और भ्रातृ-स्नेह से वंचित होकर मेरा यह जीवन क्या भू पर भार नहीं हो जायेगा? ओह! लोग मुझे कुटुम्बद्रोही कहेंगे। नहीं! नहीं यह अधम कृत्य मुझसे नहीं होगा। हे अन्तरात्मा इसका उपाय आप ही बताओ। (कुछ ठहर कर जैसी किसी की बात सुन रहा हो) अच्छा! (हंसकर) ऐसी बात है। ठीक है- समझ गया मैं, हे सिद्धान्त! ऐसी विकट घड़ियों में आप ही मेरे रक्षक रहे हैं।

(मन्त्री मागध का प्रवेश, वह भरत को नमस्कार करता है।)

मागध- महाराज! बाहुबली युद्ध के लिए सन्नद्ध खड़े हैं, आपकी प्रतीक्षा की जा रही है।

भरत- अच्छा! चलो। (उठकर खड़े हो जाते हैं)।

मागध- स्वामी! महाराज बाहुबली एक मल्ल की भांति युद्ध के लिए लंगोट लगाकर खड़े हैं और आप इस प्रकार कैसे पधार रहे हैं? महाराज! आपकी शक्ति अतुल्य है, किन्तु युद्ध में तो पूर्ण सुसज्जित होकर ही जाना चाहिये।

भरत- तुम चिन्ता न करो मागध! मेरी पराजय नहीं होगी। चलो चलें।

(प्रस्थान)

-: पटाक्षेप :-

सप्तम दृश्य

(भरत एवं बाहुबली युद्ध क्षेत्र के लिए दो पर्वतों की भांति तैयार खड़े हैं। दोनों के मन्त्री, प्रजा एवं सेना आदि आश्चर्य चकित नेत्रों से चक्रवर्ती एवं कामदेव को देख रहे हैं। युद्ध की रणभेरी बज रही है, तभी रणभेरी बन्द करने की आज्ञा देते हैं।)

भरत- अमात्यवर! रणभेरी बन्द कर दी जाय।

(अमात्य सैनिकों को रणभेरी बन्द करने का आदेश देते हैं।)

भरत- (बाहुबली से) प्रिय सहोदर! आज तुम्हारे और मेरे बीच युद्ध का यह अवसर क्यों उपस्थित हो रहा है, क्या

तुमने इस पर विचार किया है? भाई! तुमने तो मेरा कोई अपराध नहीं किया किन्तु बोलो तो क्या मुझसे कोई अपराध हुआ है? क्या तुमसे कर वसूल करने के लिए मैंने कभी अपने दूतों को तुम्हारे राज्य में भेजा है? क्या मेरे मन्त्री या प्रजाजनों ने कभी तुम्हारा तिरस्कार किया है?

भाई! मन में ऐसा विचार न करना कि युद्ध से डर कर मधुर-मधुर बातों से तुम्हारे प्रवंचन का प्रयास कर रहा हूँ। युद्ध तो करेंगे ही किन्तु युद्ध से पूर्व सम्भावित प्रश्नों के समाधान से तुम्हारा और मेरा हृदय इतना स्वच्छ हो जाना चाहिए कि यह युद्ध वास्तव में सदा के लिए धर्मयुद्ध का आदर्श बन जाए।

बाहुबली- युद्ध का अवसर मैंने उपस्थित नहीं किया, वह तो आपने उपस्थित किया है। पिताश्री के द्वारा जो राज्य मुझे दिया गया है, उसके उपभोग का अधिकार मुझे है। आपने उसे हड़पने का प्रयत्न क्यों किया? यदि नहीं, तो दक्षिणांक जैसे कूटनीतिज्ञ को मेरे पास भेजने में आपका क्या उद्देश्य था?

भरत- भाई! मैं तुमसे थोड़ा बड़ा हूँ, अतः मैने तुम्हें अपने पास बुलवाया। यदि तुम मुझसे बड़े होते तो मैं तुम्हारे पास आता। छोटा भाई बड़े भाई के पास जाय तो क्या अनुचित लगता है। भाई तुम मेरे शत्रु हो या मैं तुम्हारा शत्रु हूँ, इतना क्रोध किसलिए कर रहे हो?

बाहुबली- अपनी छोटी अंगुली को टेड़ा करने का जो नाटक आपने किया था, उससे आपका उद्देश्य मुझे डराने के अतिरिक्त क्या हो सकता है? मैं युद्ध के लिये कटिबद्ध हूँ, आपके लिए केवल दो ही मार्ग हैं आगे बढ़कर युद्ध करो या पराजय स्वीकार करो।

भरत- आज दो सहोदरों के युद्ध का तमाशा देखने के लिए यह दुनियाँ खड़ी है। भगवान आदिनाथ के पुत्र आज एक दूसरे के प्राणों के ग्राहक बन रहे हैं। क्या हमारा इक्ष्वाकु कुल हमारे इन कृत्यों से कलंकित न होगा? भाई! क्या लोग यह न कहेंगे कि आज ये कपूत त्रैलोक्य शिरोमणि भगवान आदिनाथ के पावन कुल को कलंकित करने जा रहे हैं, भ्रातृ-स्नेह की पावन संतति को आज हम भस्मसात् कर रहे हैं यह अपने कुल के लिए ही नहीं, किन्तु विश्व के प्रति हमारा महान अपराध न होगा?

भाई! मुझे इस चक्ररत्न की तनिक भी अभिलाषा नहीं, यह स्वतः युद्धशाला में उत्पन्न हो गया और इसने सम्पूर्ण पृथ्वी में भटकाया है। भाई! तनिक मेरी ओर तो देखो, मैं तुम्हारा शत्रु नहीं हूँ। लो यह सम्पूर्ण राज्य (सेना की ओर संकेत कर) तुम सम्भालो। मैं षट्खण्ड की विजय करके आया हूँ, तुम्हीं इसके स्वामी हो? (बाहुबली अत्यन्त लज्जित होकर मुँह सीधा कर लेते हैं व नतमस्तक खड़े हो जाते हैं।)

भरत- (चक्र की ओर मुँह करके) ओ चक्र पिशाच! अब मुझे तुम्हारी आवश्यकता नहीं है। तुम्हारे स्वामी अब

बाहुबली हैं, इनकी आज्ञा में प्रवर्तन करो। अरे निर्लज्ज! अपने स्वामी के चरणों में जाकर क्यों नहीं झुकता। (चक्र को ठोकर मारते हैं।)

(बाहुबली से) भाई! अब शांत हो जाओ। यदि युद्ध की बात सोचें तो तीनों ही युद्धों में तुम्हारी विजय है। तुम मुझसे ऊंचे हो अतः दृष्टि-युद्ध में तो मेरी ऑखों को ऊपर देखते-देखते थककर हारना ही पड़ेगा। जल-युद्ध में भी तुम सरलता से मेरे ऊपर पानी उछाल कर मुझे पराजित कर दोगे और मल्ल-युद्ध में भी तो प्रत्यक्ष ही तुम्हारी विजय निश्चित है। अब मुझे क्षमा कर दो भाई। आज सब लोगों की साक्षी में मैं हारा और तुम्हारी विजय हुई।

बाहुबली- (अत्यन्त-विनयपूर्वक भरत की ओर मुँह करके) मुझे जीवन दान देने वाले आत्मवेत्ता भ्राता! मैंने आपके ऊपर कांटे बरसाये, किन्तु आपने मुझ नीच पर फूलों की वर्षा की। ओह! मैं कितना अधम हूँ। यह मस्तिष्क आपके विशाल हृदय सागर को नहीं माप सका, पूज्य! मुझ अधम को क्षमा कर दीजिए।

भरत- भाई! दुखी न होओ, तुमने कोई अपराध नहीं किया।

बाहुबली- नहीं। मेरा हृदय साक्षी नहीं देता। मैंने घोर अपराध किया। यह पाप तो धोना ही पड़ेगा। मेरी एक इच्छा है, पूज्य! आप उसे स्वीकार कीजिये।

भरत- क्या संकोच हो रहा है भाई! निःसंकोच कहो।

बाहुबली- मुझे दीक्षा ग्रहण करने की अनुमति प्रदान कीजिये, मैं तपोवन में जाऊँगा।

भरत- यह एक बात छोड़कर और कोई बात हो तो कहो भाई। क्या मुझे संसार के कष्ट भोगने के लिए अकेले छोड़ जाना चाहते हो। युद्ध में तुम्हारी पराजय नहीं हुई है जिससे इतने उदासीन हो गये हो। आज तो प्रसन्नता की बातें करो।

बाहुबली- आप महान हैं, भ्राता। मेरी पराजय का मेरा हृदय साक्षी है। मेरी निष्ठुरता से चक्ररत्न भी मेरे समीप न आ सका। मुझे अपने दुष्कृत्यों का प्रायश्चित कर लेने दीजिये।

भरत- नहीं भाई! मुझे अप्रसन्न करना तुम्हारा कर्त्तव्य नहीं है, मुझे प्रसन्न करके ही जा सकोगे।

बाहुबली- पूज्य भ्राता। मैं दीक्षा लेकर मोक्ष मन्दिर में आपकी प्रतीक्षा करूंगा। अब तक आपके संरक्षण में था, अब पिताजी के संरक्षण में कैलाश पर जा रहा हूँ। ओह ! यह संसार कितना क्षणभंगुर है। इस क्षणिक ऐश्वर्य पर मैंने कितना मिथ्या अभिमान किया। अपने स्वरूप को भूलकर बहुत दूर भटक गया हूँ मैं, मुझे अपना दिव्य प्रकाश दो भाई, मैं घोर अन्धकार में ठोकरें खा रहा हूँ। बस मुझे दीक्षा की अनुमति प्रदान कीजिए। मुझे अब सांसारिक सुखों की

लालसा नहीं रही।

भरत- नहीं ! तुम और मैं कुछ समय राज्य शासन व्यवस्थित करके दीक्षा लेंगे। मैं तुम्हारे भरोसे हूँ, पर तुम मुझे छोड़कर पहिले ही जा रहे हो। अभी कुमार महाबल भी तो राज्य संभालने योग्य नहीं हुआ है।

बाहुबली- भ्राता ! कुमार महाबल नहीं तो कुमार अर्ककीर्ति तो सर्व प्रकार शासन के योग्य है। यह मेरा राज्य उसे संभला दीजिये, मैं अब इस संसार में नहीं रह सकूंगा। भ्राता ! मुझे आज्ञा दीजिये।

(बाहुबली भरत के चरणों में मस्तक रख देते हैं, भरत के नेत्रों से धारा प्रवाह अश्रुपात हो रहा है।)

भरत- उठो भाई ! मेरा यह निर्बल हृदय तुम्हारा वियोग सहन नहीं कर सकेगा; किन्तु कल्याण के पथ पर जा रहे हो भाई! जाओ।

(बाहुबली अपने पुत्र महाबल कुमार को भरत के चरणों में झुका देते हैं और आप भरत को नमस्कार कर सबसे क्षमा माँगकर दीक्षा के लिए चले जाते हैं।)

भरत- ओह ! अमात्यवर। मेरी राज्य लिप्सा के कारण मेरे साथी सहोदरों ने वनवास ले लिया है। क्या अब साधारण लोगों की दृष्टि में यह चक्रवर्ती हीन दृष्टि से नहीं देखा जायेगा ? आज में सहोदर स्नेह से वंचित होकर राजप्रासादों में क्या करूंगा।

बासन्तक- महाराज ! आज आप मानसिक वेदना से बहुत थक चुके हैं। सम्पूर्ण सेना एवं प्रजाजन शोकसागर में डूब रहे हैं। यह संसार की विविधता है महाराज। मनुष्य जैसी सोचता है वैसा नहीं होता। अब चिन्ता का परित्याग करके प्रासाद में पधारिये।

(सबका प्रस्थान)

-ःपटाक्षेपः-

अष्टम दृश्य

(जंगल में होकर बाहुबली दीक्षा के लिए पधार रहे हैं। वैराग्य में डूबे हैं, पीछे से भरत के दो महाभक्त कुटिलनायक एवं शटनायक जाकर उन्हें महा अपमान भरे शब्द कहते हैं। बाहुबली खड़े-खड़े सुनते हैं।)

कुटिलनायक- हे भाग्य फूटे बाहुबली! सुनो, हमारे स्वामी षट्खण्ड के विजेता भरत को नमस्कार करके तुम सुख से न रह सके। अब भिक्षा के लिए तो भरत के दरबार में ही आना पड़ेगा। सोने के लिए, खाने के लिए, बैठने, उठने और तपश्चर्या के लिए भरत के राज्य के अतिरिक्त दूसरा स्थान तुम्हें कहाँ है ? राज्य में रहकर सुख भोगना तो तुम्हारे भाग्य में नहीं लिखा। अब भटक-भटक कर टुकड़े माँग-माँग कर खाने का समय आ गया है। भाई से विद्रोह करने का फल इसी जन्म में चखो।

शटनायक- (व्यंग से) पधारो राजन् ! पधारो भीख मांगकर भोजन करो। घास और कांटों से भरे जंगलों में

सोओ। अब तुम्हारी दशा बिगड़ने का समय आया है। हमारे स्वामी का तिरस्कार करके कभी सुख से रह नहीं सकते।

बाहुबली- और कहो शटनायक ! क्या इतने से ही मेरी परीक्षा कर चुके ? और मित्र कुटिलनायक! तुम्हारे यह वचन मेरी वैराग्य की वज्र दीवार भेद कर मेरे हृदय में प्रविष्ट न हो सके। तुम्हारे ये अग्निबाण मेरे वैराग्य सागर में डूब कर शांत हो गये हैं। और बोलो, क्या कहना चाहते हो ?

कुटिलनायक- कुछ नहीं ! तुम्हारे मान का मर्दन करना था और वह हो गया। भरत की भूमि में ही अब तुम्हें अपनी सारी चर्या करनी पड़ेगी और कोई स्थान नहीं है संसार में तुम्हारे लिए। जाओ।

(बाहुबली एक ओर चले जाते हैं कुटिलनायक एवं शटनायक दूसरी ओर।)

–ःपटाक्षेपः–

नवम दृश्य

(विपिन तपोवन में बाहुबली तपस्या कर रहे हैं। एक वर्ष हो गया है, पैरों के ऊपर मिट्टी की मोटी तहें जम गयी हैं, जिनमें सर्पों ने बांबियाँ बना ली हैं। सम्पूर्ण शरीर पर वन-लतायें छा गयी हैं। फिर भी तपश्चर्या में रत हैं, मानों पत्थर की प्रतिमा खड़ी हो, इस समय भरत सम्बोधन के लिए पधारते हैं।)

भरत- (दूर से ही) भुजबली योगेश्वराय नमो नमः

(पास जाकर चरणों में मस्तक रख देते हैं और पास ही खड़े होकर विनम्र शब्दों से निवेदन प्रारम्भ करते हैं।) हे योगीराज! आपके मन में जिस बात का क्षोभ है वह अभी मैं त्रिलोकदर्शी भगवान आदीश्वर से जान कर आया हूँ, किन्तु योगिराज ! कैसी छोटी सी बात में आप अटक गए हैं। इस पृथ्वी को आप मेरी समझ रहे हैं, यह कैसी आश्चर्य की बात है। जिस पृथ्वी को अनेक राजाओं ने भोग लिया है, जिस पर अभी मेरा शासन है और भविष्य में किसी अन्य का शासन होगा ऐसी वैश्यासदृश इस भूमि को आप मेरी समझ रहे हैं। क्या यह बात आप जैसे ज्ञानसागर के लिए योग्य है ? गुरुदेव ! विचार कीजिये, इस बात को गुप्त रखने की क्या आवश्यकता है कि जिस समय मैं षट्खण्ड विजय करके वृषभादि पर्वत पर निजशासन लिखने गया तब मेरा शासन लिखने के लिये मुझे पर्वत पर स्थान न मिला। सारा पर्वत पूर्व चक्रवर्ती राजाओं के शासन लेखों से भरा हुआ था। तब मुझे एक राजा का शासन लेख मिटाकर अपना शासन होने पर भी लेख लिखना पड़ा। इस पृथ्वी पर मेरा ऐसा शासन! फिर भी आप इस पृथ्वी को मेरी समझ रहे हैं। इस भूमि की तो बात ही क्या स्वर्ग के रत्नमयी विमान और कल्पवृक्षों की विभूतियाँ भी इन्द्रों को नहीं हैं। इन्हें भी वे छोड़नी ही पड़ती हैं, तो इस पृथ्वी के मनुष्यों की तो बात ही क्या है ? फिर आप इस पृथ्वी को मेरी कैसे कह रहे हैं ? आत्म-शोधक! फिर विचार कीजिये, जब यह शरीर भी अपना नहीं है, तब दूसरे पदार्थों पर तो हमारा अधिकार ही

क्या है ? आप इस पृथ्वी को तृण-तुल्य समझ कर छोड़ आये, किन्तु मैं नहीं छोड़ सका, इसलिए आप मेरे गुरु हुये और मैं छोटा ही रहा, फिर भूमि कैसे रही ? आप तो ज्ञानसागर हैं योगिराज ! आपके समक्ष मुझ तुच्छ प्राणी की गिनती ही क्या ?

(भरत 3-4 मिनिट हाथ जोड़कर एक ओर खड़े रहते हैं, बिजली का प्रकाश कुछ धुंधला कर दिया जाता है, उसी समय देव जय-जयकार करने आते हैं। एकदम बिजली की चकाचौंध पैदा करने वाला प्रकाश होता है। पुष्प वृष्टि होती है, बाजे बजते हैं, सबको विदित हो जाता है कि भगवान बाहुबली को केवलज्ञान हो गया है। सब विनयपूर्वक खड़े होकर सुमधुर स्वर में भगवान बाहुबली की स्तुति करते हैं। इधर स्तुति समाप्त होती है, उधर पटाक्षेप होता है।)

-ःइत्यम्ः-

दशलक्षण महापर्व : द्रव्य एवं भावपक्ष

यह महापर्व का सुहावना मौसम है, लेकिन हमारे भीतर हमारी चित्तभूमि में मौसम सुहावना होना चाहिए। चित्त प्रसन्न होना चाहिए, क्योंकि हमें माँ जिनवाणी के माध्यम से वे बातें उपलब्ध होती हैं कि जिनको एकबार आत्मसात् कर लेने पर चित्त कभी बिगड़ता ही नहीं है, हमेशा प्रसन्न रहता है।

यह दशलाक्षणी महापर्व है, पयूर्षण पर्व नहीं। दिगम्बर जिनागम में पयूर्षण पर्व नाम की कोई वस्तु नहीं है, इसलिए हमें इस पर्व को सदा दशलक्षण या दशलाक्षणी पर्व के नाम से ही पुकारना चाहिए। दशलक्षण पर्व अनादि-अनन्त शाश्वत है।

यह धर्म दश प्रकार के विकारों के अभाव की अपेक्षा आगम में भी दश कहे गये हैं, वास्तव में तो चारित्र की वीतरागता रूप पर्याय ही दश धर्म कही जाती है। पूजा में अर्घ्य चढ़ाते हैं, उस अर्घ्य में भी 'दशलक्षण धर्माय' बोलते हैं 'धर्मेभ्यो' नहीं। यह शब्द संस्कृत का है, 'धर्माय' एक वचन है, इसलिए धर्म दश नहीं, बल्कि चारित्र की वीतराग पर्याय ही है। (प्रवचनसार गाथा 10 टीका आचार्य जयसेन)

इस महापर्व को वास्तव में तो नग्न दिगम्बर मुनिराज ही निरन्तर मनाया करते हैं। इस समय तो उनकी स्थिति ही निराली होती है। चौबीस घण्टे केवल अपने अनादि-अनन्त, अनन्तशक्ति सम्पन्न अनन्त गुणों से अनन्त गुणों के वैभव से भरा हुआ जो चैतन्य है, उसमें निरन्तर केलियाँ करना – ये महामुनिराज का जीवन होता है और उसमें कष्ट का नामोनिशान नहीं होता। हम कष्ट की बात करते हैं, मुनिराज को दुःखी देखते हैं।

मुनिराज को दुःखी देखने का अर्थ यह हुआ कि हमने आज तक देव-शास्त्र-गुरु की पूजा तो की; लेकिन गुरु का स्वरूप हम नहीं समझ पाये। अरे ! एक सामान्य ज्ञानी भी, जिसे एकबार चैतन्य की अनुभूति हुई है, हम तो उसे भी नहीं समझ पाये।

अरे ! चैतन्य तो है ना, अनादि-अनन्त, यह बात तो सबसे पहले स्थापित होना चाहिए। चैतन्य जैसा देवाधिदेव मेरा निज आत्मद्रव्य, मेरा निज परमात्मा अनादि-अनन्त, सदैव मुक्त सर्व दुःखों से सर्व कलेशों से रहित निरापद, ध्रुव, सदाध्रुव, वही का वही जिसमें कभी कोई परिवर्तन नहीं होता, जिसके मौसम नहीं बदलते। कभी प्रसन्नता हो जाए तो कभी दुख हो जाए, इस तरह की घटनाएँ जिसमें घटती नहीं है। ऐसी जो चैतन्य सत्ता, आत्मा की सत्ता, हमारी सत्ता, उसकी स्थापना तो हम करें। हम अपने भीतर अपनी स्थापना तो करें, हमें अपना ही परिचय नहीं है तो हम देव-शास्त्र-गुरु की पूजा करके क्या करेंगे ? क्या मिलेगा हमें उनसे?

जो देव हैं, साक्षात् उनको देखते ही यह बोध होता है कि वे किसी की तरफ झाँकते नहीं, देखते नहीं, निरन्तर अन्तरमग्न हैं, इनसे मैं क्या सीखूँ ? बोलते तक तो नहीं हैं मेरे से। इनसे मैं क्या सीखूँ ?

यही तो है सीखने की बात। प्रसन्न रहने का, सुखी रहने का अगर कोई उपाय है तो वह यह है कि सबसे निरपेक्ष होकर एकमात्र चैतन्यतत्त्व में समा जाए। इस विधि से सदा के लिए, अनन्तकाल के लिए दुःख छूट जाते हैं।

यहाँ तो हमें अनन्त पदार्थों का लोक में अवलम्बन लेना पड़ता है, लेकिन अनन्त पदार्थों का अनादि-अनन्तकाल से अवलम्बन हमारी एक भी अभिलाषा को पूरी नहीं कर पाया। सोचने की है बात

कि अनन्त पदार्थों का लिया अवलम्बन, वह अनन्त पदार्थों का है, वर्तमान में धन-धान्य हो, सोना-चाँदी हो, हीरे-जवाहरात हों, कुछ भी हो, बहुत कुछ हो; लेकिन इनका अवलम्बन मेरी इच्छा को तृप्त नहीं कर पाया।

केवल एक मेरा जो चैतन्य है उसके पास मैं एकबार गया और उसने मेरी सारी झोली भर दी। इतना है उसके पास, सब कुछ दे देता है एकबार जाने से, फिर सबसे श्रेष्ठ हुआ या नहीं ? सारे लोगों से; क्योंकि सारे लोकालोक के पास में गया, भगवान सिद्ध परमात्मा के पास भी गया, लेकिन कुछ बोले नहीं, अरहन्त परमात्मा के पास गया तो बोले क्यों आया है मेरे पास ? मेरे से कुछ मिलना नहीं है और मैं तुझे क्या दे सकता हूँ तू तो स्वयं ही अरहन्त है स्वयं ही सिद्ध है, अगर मैं देता हूँ तो पाप है वह, धनवान की झोली कौन भरे ? तू तो स्वयं अनन्त धनवाला, अनन्त वैभववाला है। ऐसे आत्मा की सत्ता पहिचानना चाहिए।

एक अपनी सत्ता की स्थापना, उसे जानना, कैसा है मेरा सुन्दर स्वरूप ? कितना समृद्धिशाली हूँ मैं ? इस बात को जब तक नहीं जानेगा। तब तक आत्मा की बात सुनकर प्रसन्नता भी कैसे होगी? इतना हूँ मैं, अरे मैं अरबपति हूँ, अरबों मेरे पास हैं। केवल ये एक विकल्प हमें कितनी प्रसन्नता, कितने घंटों तक दे देता है; क्योंकि ये तो निश्चित रूप से ही जाने वाले हैं या तो हम इनको छोड़कर जाने वाले हैं या ये हमको छोड़कर जाने वाले हैं; लेकिन रहनेवाला कोई नहीं है और यह चैतन्य तो, मैं जब चाहूँ तब उपलब्ध है। ये अनादि-अनन्त है, अकृत्रिम है, किसी का बनाया हुआ नहीं। कोई इसके ऊपर नहीं, कोई इसके नीचे नहीं, यह किसी की सापेक्षता नहीं रखता, यह किसी के आधीन नहीं, किसी के अवलम्बन पर नहीं,

इसमें कोई दुःख-दर्द नहीं, सुख ही सुख भरा हुआ है, आनन्द भरा हुआ है। ऐसे तत्त्व को केवल एकबार, कम से कम इस महापर्व में ही स्वीकार कर लिया जाये तो बहुत बड़ी खुराक मिल जायेगी।

उस चैतन्य की आराधना मुनिराज निरन्तर करते हैं और हम अभी तक नहीं कर पाये, सुन तो लेते है, कभी सुन लेते हैं, कभी नहीं सुनते हैं, जैसे कोई किसी दिन खा लेता हो रोटी, किसी दिन नहीं खाता हो, महिनों भूखों रहता हो ऐसा व्यक्ति होता है क्या कोई ? नहीं होता। रोजाना भूख लगना और रोजाना भोजन करना जैसे मनुष्य का काम है, **उसी तरह निरन्तर रोजाना – प्रतिदिन इस चैतन्य का आनन्दमय भोजन** करना प्रत्येक दिगम्बर जैन का कर्त्तव्य है।

समय....? बहुत समय है हमारे पास, समय की शिकायत स्वीकार करने लायक नहीं है, गलत है वह। व्यवसाय से समय नहीं मिलता, व्यवसाय तुम करते ही कहाँ हो ? व्यवसाय तुमसे होता ही कहाँ है ? व्यवसाय यदि होता होता, तुम करते होते, तुम उसके कर्त्ता होते। तो तुम्हारा उस पर अधिकार होता। कर्त्ता तो वह होता है, जिसका कर्म पर अधिकार होता है, यदि तुम्हारा उस पर अधिकार होता, तो आज तुम्हारे पास इतना होता, जो दुनियाँ में किसी के पास नहीं है। लेकिन एक तिनका भी जीव इधर-उधर नहीं कर पाता है। ये सारा परिश्रम, सारा पुरुषार्थ सारे व्यवसाय में जितना श्रम होता है, वह बिल्कुल पानी में जाता है। और आता है तो बिना दिया हुआ आता है – कई घटनाएँ ऐसी हमारे आस-पास होती हैं कि हम कल्पना ही नहीं करते है और बहुत आ जाता है और हम कल्पना ही नहीं करते हैं और उस मारवाड़ की रेत की तरह दूसरी जगह जाकर ढेर हो जाता है, चला जाता है।

ये सब होता है रात और दिन, तब हम ठिकाने आ जाते हैं, आते तो नहीं हैं, पर कहने लगते हैं कि ऐसा ही होना था, हमने तो बहुत कोशिश की थी। तुम्हारी अगर कोशिश है, तुम इसके अधिकारी हो वास्तव में, तो वह सफल और सार्थक होना चाहिए; लेकिन एक अणुमात्र पर भी तुम्हारा हमारा अधिकार नहीं है – यह बात जानकर केवल एक ही सत्ता मेरी है इस विश्व में, केवल चैतन्य सत्ता, उस चैतन्य सत्ता के निकट जाकर निरन्तर आनन्द वाटिका में विहार करते हैं। उसमें से निकलना नहीं चाहते।

जैसे कछुवा होता है ना, कछुवा। वह आलसी होता है, चलना ही नहीं चाहता, पड़ा रहना चाहता है। उसी तरह उस आनन्द वाटिका में चैतन्य वाटिका में अगर मुनिराज जाते हैं तो आलसी हो जाते हैं। उनका तो जीवन ही यही है, और नहीं है। आठ मूलगुण और महाव्रत ये वो और ये वो ये मुनिराज के कर्त्तव्य नहीं है। तो क्या नहीं पालते हैं ? पलते हैं, कर्त्ता बनकर पालते नहीं; क्योंकि वे भाव आत्मा से विरुद्ध भाव हैं, पराश्रित भाव हैं, परावलम्बी भाव हैं, पर से उनका सम्बन्ध है। जिनका सम्बन्ध पर से है, वे हमारे अधिकार में हो नहीं सकते। और हम उनके कर्त्ता नहीं हो सकते, वे पलते हैं। लिखा है आचार्य ने तो प्रवचनसार में कि हे पंच महाव्रत, हे पंच समिति, हे तीन गुप्ति ! मैं तुम्हारा पालन तब तक करता हूँ, जब तक मैं अपने चैतन्य में समा न जाऊँ। केवल इतने होते हैं वे।

पापभाव की तो यहाँ पर चर्चा ही नहीं की जाती है; लेकिन पुण्यभाव की भी कीमत इतनी है। पुण्यभाव की विशुद्धि होने पर अगर हम अपने ज्ञान को, अन्य को नहीं, और सब गुणों को छोड़ दीजिए। जो प्रतिसमय ज्ञान चलता है हमारा ये ज्ञान श्रुतज्ञान....मतिज्ञान के बाद श्रुतज्ञान विशेष ज्ञान होता है। विशेष ताकत वाला केवलज्ञान

जैसी ताकत वाला ज्ञान होता है। आचार्य ने उस भावश्रुतज्ञान को जो आत्मा का अनुभव कर लेता है। उसको केवलज्ञान के समीप रखा है – ऐसा जो श्रुतज्ञान है उस श्रुतज्ञान को सारे विकल्पों से तोड़कर, क्योंकि ये विकल्प चैन नहीं लेने देते हैं। एक आसमान से उतर आया एक पाताल से आया है। विकल्प ही विकल्प, अरे आत्मा की आराधना करेंगे तो क्या विकल्प से केवल आत्मा का विचार कर लेंगे ? भोजन का केवल विचार करते हैं या भोजन के साथ हम आत्मसात् होते हैं। भोजन का ग्रास मुँह में खाकर तत्काल उसके आनन्द का अनुभव करते हैं या खाली उसके गुण गाया करते हैं ? तो हम भगवान के गुण गा लें, उससे कुछ होने वाला नहीं है। दूसरे के गुण गाने से कुछ होने वाला नहीं है। किसी धनपति के दरवाजे जाकर उसी के गुण गा लो तो क्या ? तुम हम स्वयं वैसे धनपति बन जायेंगे।

अरे उसने जो पुरुषार्थ किया है उसी पुरुषार्थ पर यदि हम अग्रसर होते हैं तो धनपति बन जाते हैं। भगवान की प्रतिमा, साक्षात् समवसरण के भगवान का संदेश क्या है ? अरे तू स्वयं परमात्मा है, मरा कहाँ है तू ? 'ण वि उप्पजयि ण वि मरयि' न उत्पन्न होता है और न कभी मरता है आत्मा। पुण्य और पाप के भाव नहीं हैं उसमें, रहित है वह। अरे उसमें मोक्ष की पर्याय नहीं है, पुण्य-पाप के भाव तो कहाँ लगते हैं, नहीं हैं उसमें वे सब। लेकिन ये तो सदा से आते रहे है न; आते हैं, आते हैं; लेकिन हम ये बात समझें कि पुण्य और पाप कतई मेरा स्वरूप नहीं हैं।

तो इससे क्या पुण्य-पाप छूट जायेंगे ?

छूट जायेंगे तो मोक्ष हो जायेगा, डरते क्यों हो ? छूट नहीं जाते। जब तक रहता है संसार में, तब भी ज्ञानी को तो किंचित् भी पापभाव

कहे ही नहीं। पुण्यभाव आते हैं लेकिन उन पुण्यभाव में भी वह कभी अनुरक्त नहीं होता। यह है मेरा स्वरूप। पराधीनभाव हैं न दया दान पूजा इत्यादि, इनमें दूसरा पदार्थ चाहिए। आत्मा के लिए दूसरे पदार्थ की आवश्यकता ही नहीं। आत्मा का अनुभव करने के लिए किसी को लाना पड़े, किसी का अवलम्बन लेना पड़े। अरे, गुरु की भी आवश्यकता नहीं है। जिन गुरु से आत्मा का स्वरूप सुना, उन गुरु की याद नहीं आती। याद आवे तो आत्मा का अनुभव ही न हो।

एक परीक्षा भवन में एक परीक्षार्थी परीक्षा देता है तो प्रोफेसर को याद किया करता है या पेपर करता है ? असली प्रोफेसर भी यह कहता है कि मुझे भूल जाना, मुझे याद मत करना, वरना उतना ही भटक जायेगा, उतना ही तेरा समय नष्ट होगा। इसलिए मुझे याद मत करना, मैंने जो तुझे सिखाया है और तूने जो आत्मसात् किया है। उसमें तू अनुरक्त हो जाना। उसमें लीन हो जाना, तू फस्ट क्लास फस्ट आने वाला है। इतनी योग्यता है तेरे में।

तो क्या अरहंत भगवान हमको गुमराह करेंगे, हमको भीख माँगना सिखायेंगे ? पर हम तो भीख माँगते हैं।

क्षुल्लकजी (धर्मदासजी) ने कहा है कि जीव को आज तक दो वस्तु नहीं मिली। जिनराज स्वामीजी नहीं मिले और अपना शुद्धात्मा....। क्या गजब है बात ! जिनराज स्वामीजी रोजाना दर्शन करने वालों को, लम्बी-लम्बी पूजाएँ करने वालों को नहीं मिले। क्या ये निन्दा नहीं है दर्शन और पूजन की ? ऐसा कहोगे तो फिर हम दर्शन-पूजन करना छोड़ देंगे। चिन्ता मत करो, दर्शन-पूजन तो होगा, करोगे, नहीं करोगे, तो क्या करोगे, घंटाघर जाओगे क्या ? कहाँ जाएँगे ? कहाँ मिलेगी यह चीज ? मिलेगी तो केवल यहीं मिलेगी; लेकिन उसके मिलने की जो विधि है, उसके मिलने के लिए जो ज्ञान

चाहिए, उसमें प्रवृत्ति करने से मिलेगी, यहाँ आने मात्र से नहीं मिलेगी। यहाँ तो हम आते ही रहे हैं। पर वास्तव में तत्त्वज्ञान गायब हो गया है।

तत्त्व माने शुद्ध चैतन्य। सात तत्त्व तो होते ही हैं, लेकिन सात तत्त्व में सर्वोपरि शुद्ध जीवतत्त्व है, और वह शुद्ध जीवतत्त्व मैं हूँ। इस बात को जिसने जाना, उसने पहली बार अपने भीतर चैतन्य की स्थापना की। वरना वह चैतन्य तो पड़ा ही हुआ था, लेकिन इसके लिए तो वह व्यर्थ था गढ़े हुए धन के समान, ये तो दरिद्री था, होटल में जाकर कप साफ करता था, तस्तरियाँ धोता था और धन गढ़ा हुआ था। ये गढ़ा हुआ धन चैतन्य, अनादिकाल से हमारे पास पड़ा हुआ है; लेकिन हमने इसको जानने का प्रयत्न नहीं किया।

हमारे लिए तो बस यही काफी है। थोड़ा बहुत दान कर लेते हैं, पूजा कर लेते हैं। सदाचार पाल लेते हैं। श्रावक के षट् कर्म कर लेते हैं। पर तू तो श्रावक भी नहीं है। तत्त्वज्ञान तो यह कहता है श्रावक और मुनि ये वेश नहीं हैं, आत्मा के वेश नहीं होता। आत्मा नाना प्रकार का नहीं होता है, वह तो एक ही प्रकार का है, शुद्ध है, परिशुद्ध है, वही का वही है। और कभी जिसको कोई विपत्ति आती नहीं। जिसका किला वज्र का बना हुआ है। उस वज्र के किले के भीतर यदि कोई प्रविष्ट हो जाये, उस पर यदि गोले भी बरसें, तो उसे छूने वाले नहीं हैं। ऐसे परमात्म तत्त्व की आराधना मुनिराज करते हैं। लेकिन हम अभागे हैं, क्योंकि हमने इन दश धर्मों का शुद्ध स्वरूप ही नहीं समझा।

वास्तविक उत्तम क्षमा क्या होता है ? क्षमा करता हूँ, देता हूँ, लेता हूँ, ये देने-लेने की वस्तु तो है ही नहीं। इससे तो कुछ होता ही नहीं, औपचारिकता है, होती रहेगी औपचारिकता और होती रहनी

चाहिए, लेकिन इसमें ये मानना कि मैंने किसी को क्षमा कर दिया है – ये झूंठ है। तुम क्षमा करने वाले कौन होते हो ?

उत्तम क्षमा अर्थात् उत्तम शब्द जो है, वह सम्यग्दर्शन के लिए है और क्षमा अर्थात् शुद्ध चैतन्य आत्मतत्त्व। क्षमा जैसा, पृथ्वी जैसा – ऐसा जो आत्मतत्त्व है, उस आत्मतत्त्व में आचरण करना, विचरण करना, उसका नाम उत्तम क्षमा है और उत्तम ब्रह्मचर्य ? उसका भी वही स्वरूप। ब्रह्म माने ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्व, चैतन्य तत्त्व, उसमें चर्या करना, उसका नाम ब्रह्मचर्य। कहाँ भेद हुआ दस धर्मों में ? कहाँ अन्तर है ? लेकिन उनका विचार करना, वह कर्त्तव्य है हमारा, जबतक उसकी प्राप्ति – चैतन्य की प्राप्ति न हो जाए, तबतक उनका विचार करना, विकारों को कम करने के लिए और चैतन्य की प्राप्ति करने के लिए, उनका विचार करना भी कर्त्तव्य है। ये एक व्यवहार कर्त्तव्य है।

मुनिराज की चर्चा आई, आनी भी चाहिए, क्षमादि दशधर्म के धारक मुनिराज कैसे होते हैं ? दिगम्बर मुनि का स्वरूप हमने क्या जाना है ? हम जानते हैं उनको उपसर्गों में दुखी और वे उपसर्गों में आनन्द की घूँट पीते हैं। ऐसे मुनिराज होते हैं। दिगम्बर मुनिराज कोई विलक्षण पुरुष, पाषाण, साक्षात् पाषाण, पत्थर, कुछ भी बरसाओ, जो तुम्हारी इच्छा हो सो बरसाओ, गर्मी पड़ती है, सर्दी पड़ती है, बरसात गिरती है। सब में पाषाण जैसे खड़े हैं। ये वीरता पाई जाएगी किसी में।

अरे ! सीमा पर कोई मिलट्री का आदमी जाता है, ऐसी वीरता होगी किसी में, ऐसा शौर्य – ऐसा पराक्रम होगा ? ये कोई शरीर का पराक्रम है क्या ? अरे ! अन्तर में उस चैतन्य में प्रवेश कर जाता

है, तो शरीर का पता ही नहीं रहता है। शरीर ही नहीं है। स्वयं आचार्य अमृतचन्द्र ने लिखा – "साधु होने पर भी साक्षात् सिद्ध हूँ मैं, सिद्ध से कोई कम नहीं हूँ मैं।" भले ही साधु कहा जाता हूँ, पर वास्तव में तो मैं सिद्ध हूँ। कैसे सिद्ध हैं ? निरन्तर सिद्ध स्वभाव की आराधना करता हूँ न। तब फिर उनमें और मेरे अन्तर कहाँ है ? ऐसे मुनिराज के निकट तो हम नहीं पहुँच पाये और उनसे काफी नीचे रह गये।

अभी तक चैतन्य का पता नहीं तो उसकी स्थापना, परिचय तो एकबार करें। यह तो कहना सीखें कि मैं तो शुद्ध चैतन्य अजर-अमर-अविनाशी तत्त्व हूँ। ध्रुव तत्त्व हूँ, मेरा कभी कुछ होना नहीं है। ये आधियाँ-व्याधियाँ – ये कभी आत्मा को लगती ही नहीं है। वहाँ तक पहुँच ही नहीं पाती हैं, छू ही नहीं पाती हैं, और छूती होती, तो इनको साथ लेकर जाता न। किसी को टी.बी. हो गया हो तो फिर उसको साथ लेकर जायेगा कि नहीं, आत्मा को टी.बी. हो जाता हो तो फिर आत्मा टी.बी. को अगले भव में साथ लेकर जायेगा कि नहीं ? लेकिन आजतक किसी के साथ टी.बी. गई है क्या ? इससे यह तो एकदम स्पष्ट है कि आत्मा को तो यह होता ही नहीं है। हुआ ही नहीं है, ऐसा अनादि-अनन्त अविनाशी ध्रुव ज्ञायक तत्त्व है, वह मैं हूँ।

ऐसी स्थापना एकबार इस दशलक्षण महापर्व के भीतर हो और उसके लिए हमने चर्चा की कि वहाँ तक पहुँचने के लिए जो पहला पहलू है विशुद्धि, वह हमारे जीवन से गायब हो गई। उस विशुद्धि के बिना... विशुद्धि तो मौसम है, अच्छा मौसम है अर्थात् उसमें गर्मी नहीं, धूप नहीं, ज्यादा सर्दी नहीं, बरसात नहीं। अच्छा मौसम है अर्थात् वह ऐसी भूमिका है कि जिसके आने पर अगर हम अपने ज्ञान

के द्वारा, विशुद्धि के द्वारा नहीं, उसके द्वारा कुछ नहीं होगा। रसोईघर के बिना रसोई नहीं बनती, तो क्या रसोईघर से रसोई बनती है। रसोई के उपादान तत्त्व अलग होते हैं, उसकी चीजें अलग होती हैं। रसोईघर तो केवल होता है। इसी तरह विशुद्ध परिणाम होने चाहिए, लेकिन उन विशुद्ध परिणामों से आत्मा नहीं देखा जाता, क्योंकि विशुद्ध परिणाम स्वयं राग है और राग आत्मा का विरोधी तत्त्व होता है, तिरस्कार करने वाला है, राग तो दूसरे से सम्बन्ध जोड़ता है।

राग क्या करता है ? राग तो आकर्षित करता है न। मुझे खाना खाना है – ये भोजन की ओर आकर्षित हुआ न। ये भोजन का राग है न। मुझे ऑफिस जाना है – ये पैसे का राग हुआ या नहीं। पैसा कौन लगता है हमारा कि हम उसकी ओर आकर्षित हों। हमको क्या अधिकार है उसकी और आकर्षित होने का। आत्मा धन की ओर आकर्षित होता है और उसी समय जो शुद्धात्मा है, वह सदा पर्यायरहित पड़ा हुआ है, जिसमें पर्याय मात्र का निषेध है। ऐसा जो आत्मतत्त्व है, उसके लिए कुछ नहीं चाहिए, न भोजन चाहिए, न उसे ऑफिस चाहिए, कुछ नहीं चाहिए – ऐसा आत्मतत्त्व है। जो राग नाम की वृत्ति है – क्रोध, मान, माया, लोभ की वृत्ति है। ये सारी वृत्तियाँ परावलम्बी, पराधीन बनाने वाली वृत्तियाँ हैं। आत्मा स्वाधीन तत्त्व है, इसलिए ये वृत्तियाँ कभी भी आत्मा नहीं हो सकतीं – ये वृत्तियाँ मुझसे न्यारी हैं।

पिछले दो दिनों से इतनी विशुद्धि की चर्चा की और आज फिर कर रहे हैं, परन्तु विशुद्धि होने पर भी, रसाईघर की तरह, उसका होना अनिवार्य होने पर भी, उससे काम नहीं होता, उससे अलग हमारे पास जो श्रुतज्ञानतत्त्व है वह ज्ञान उस आत्मा को पहिचान कर, आत्मा

के निकट जाता है, अपने आपको सारे जगत के विकल्पों से खाली करके। ये तो शर्त है, पूरी शर्त है कि आत्मा का जो श्रुतज्ञान है, वह पूरे विकल्पों से खाली हो जाना चाहिए, और उसमें केवल एकमात्र चैतन्य ही प्रवर्तित हो। मैं शुद्ध चैतन्य तत्त्व हूँ। मैं अविनाशी, मैं ध्रुव – ऐसा जब विचार करेगा, तो भी प्रसन्नता होगी। जैसे किसी को वरदान मिल जाए और वह कहे कि है कोई जगत में मुझे मारने वाला नहीं है, मुझे तो ऋषि का वरदान है। इसी प्रकार अनुभूति के बिना मात्र विचार भी करता है तो प्रसन्नता होती ही होती है।

यदि इन 10 दिनों में भी एकाग्रता से इस बात को ग्रहण कर लिया तो हम निहाल हो जाएँगे। ये जो विशुद्धि है। पूजा के लिए जैसे स्नान करना, शुद्ध कपड़े पहनना जरूरी है, पर शुद्ध कपड़े पहनना, स्नान करना पूजा नहीं है, लेकिन वह होती है, उसके बिना पूजा नहीं होती, पर उससे नहीं होती। उसी तरह ये जो विशुद्धि पुण्य परिणाम – शुभभाव, शुभोपयोग है, सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा..., मिथ्यात्व का त्याग, अन्याय का त्याग, अभक्ष्य का त्याग, निर्दयता का त्याग, करुणाभाव का हृदय में निरन्तर बहना इत्यादि जो भी चर्चाएँ हैं – ये सारी की सारी विशुद्धि अर्थात् शुभोपयोग है। अज्ञानी तो ये मानते हैं कि मैंने इतना कर लिया है, तो ऐसा करते-करते ही मेरा मोक्ष हो जाएगा।

अरे, लेकिन जो मोक्ष के विरुद्ध है और मोक्षदशा के पहले ही जिनका अभाव हो जाता है, तो वह तुझे मोक्ष कैसे ले जाएँगे। वे तो उस मोक्षमार्ग में पदार्पण ही नहीं करते। वे तो जाते ही नहीं हैं वहाँ, सिद्ध भगवान के पास पाप-पुण्य हैं क्या ? सिद्धदशा में वे छूट गये या नहीं छूटे ? छूट गये। छूट इसलिए गये कि वे विकार थे। मोक्ष से उनका मिलान

नहीं था, इसलिए वे छूट गये। तो जो छूट जाता हो और हमारे साथ सदा रहता नहीं हो, तो वह धर्म कैसे हो सकता है, वह मोक्षमार्ग कैसे हो सकता है ? इसलिए ऐसी विशुद्धि को भी हेय जाना जाता है। कैसे हो सकता है मेरा ? इसका नाम हेयबुद्धि है। एक दिन छोड़ना है, लेकिन वर्तमान में नहीं छोड़ देना है।

मुनिराज होते हैं, उनके वस्त्र नहीं होते, हम भी मुनि बनना चाहते हैं। मुनि बनने की भावना भी होती है, लेकिन मुनि होने की योग्यता वर्तमान में नहीं है। योग्यता के अनुसार पद ग्रहण करना चाहिए, वरना पद बदनाम होता है। मुनि बनना चाहें तो क्या वर्तमान में कपड़े खोल दें। कपड़ा क्या ग्रहण करने लायक है, कपड़ा क्या आत्मा की वस्तु है। मुनि बनना चाहते हैं, भावना है, लेकिन इतनी शक्ति अभी नहीं है। इसलिए कपड़े को हेय जानकर रखते हैं। कपड़े को उतारने लायक मानकर रखेंगे, कपड़ा पहनने लायक मानकर नहीं रखेंगे। लेकिन कपड़ा उतारेंगे नहीं। ये बातें हेय-उपादेय की क्या समझ में नहीं आती हैं ?

अरे ! लोक में ऐसे सैकड़ों उदाहरण भरे पड़े हैं। हम दाँतों का ब्रश करते हैं, तो उस ब्रश को हम मुँह के भीतर ले जाते हैं, तो काहे के लिए ले जाते हैं। पेट मैं उतारने के लिए या बाहर निकालने के लिए ? तो उसको मुँह में हेय जानकर रखा या उपादेय जानकर ? हेय जानकर रखा, छोड़ने लायक जानकर रखा। ये हेय-उपादेय नहीं समझ सकते क्या ? इसी तरह पुण्य और पाप के परिणाम, वे मुक्ति के विरुद्ध परिणाम-पराधीन-पराश्रित परिणाम हैं। और चैतन्यतत्त्व स्वाधीन तत्त्व है, उसे किसी का सहारा नहीं है। इसलिए वे चैतन्यतत्त्व के विरोधी भाव तिरस्कारी भाव होने के कारण, हम उनका अवलम्बन

नहीं ले सकते, लेकिन वे आते हैं और उनके आने पर जो काम होना चाहिए, वह हम कर लेते हैं। भाव बढ़ जायें तो बाजार में माल बेच दो, वरना घट जायेंगे। उसी तरह विशुद्ध परिणाम यदि आते हैं, देव-शास्त्र-गुरु की पूजा के भाव आते हैं। देव-गुरु-धर्म उनको पहिचाने, देव कौन हैं ?

अरे, हमारे जैसा देवता इस तीन लोक और तीन काल में नहीं है, एक ही देवता। कितनी सुन्दर है बात। हजारों के पास, करोड़ों के पास नहीं जाना पड़े। जाओ तो व्यवहार देव हमारे भगवान अरहंत सिद्ध और निश्चय देवता हमारा शुद्ध चैतन्य। बस दो ही देवता हैं। वास्तविक देव शुद्ध चैतन्य है, भगवान से भी पराधीनता मिलती है। ऐसे देव का स्वरूप पहिचानें। और गुरु का स्वरूप....? गुरु के 28 मूलगुण ही नहीं मालूम, तो गुरु के स्वरूप की पहिचान कैसे होगी ?

इसीतरह जिनवाणी तो उसको मिली, जिसने जिनवाणी के द्वारा शुद्ध चैतन्य को समझा। शुद्ध चैतन्य पर अपनी स्थापना करके एकबार उसकी अनुभूति की, तो वह सफल हुआ और उसने जिनवाणी को समझा। उसने जिनवाणी खोली, उसके द्वारा जिनवाणी का विमोचन हुआ। अन्य के लिए तो जिनवाणी बन्द है। जिनवाणी तो बहुत विस्तृत है, उसमें निश्चय-व्यवहार की बहुत बातें आती हैं, उसमें तो पुण्य को भी मोक्ष का कारण कहा जाता है, लेकिन बात कुछ और ही है। हम अपने मकान को दूसरे का मकान शिष्टाचार में कहते हैं। उसीतरह पुण्य को भी परम्परा से मोक्ष का कारण कहा जाता है। लेकिन मोक्ष का रंचमात्र कारण नहीं है। पुण्य भी कारण हो और पुण्य के अभाव में होनेवाला वीतराग भाव भी कारण हो – ऐसे दो कारण होते है क्या ? यदि दो हों, तो क्या दो का अवलम्बन लेंगे

हम ? नहीं बनेगी यह बात। इसलिए देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति, ज्ञान के द्वारा उनके स्वरूप को जबतक न पहिचाने... बात बन नहीं सकती।

चित्त में उछलती हुई भक्ति से अगर जीव भाव-विभोर नहीं होता है, तो उसने वास्तव में भगवान की भक्ति नहीं की। इस जीव का चित्त पाप से इतना मलिन है कि निरन्तर पाप ही पाप के विकल्प होते हैं। पाप के विकल्प में पुण्य के परिणामों का तो सदा अभाव ही रहता है। मन्दिर का तो एक कार्यक्रम बना लिया हमने कि रोजाना मन्दिर जाना है। कार्यक्रम से धर्म नहीं होता, धर्म चौबीसों घण्टे होता है। निद्रा में भी होता है, क्योंकि वह धारा तो स्थाई चलती रहती है। वह कभी बन्द नहीं होती। क्षायिक सम्यक्त्व जब से प्रगट हुआ, तब से वह धारा अनन्त सिद्ध दशाओं तक चलने वाली है। वास्तव में तो यह है मोक्षमार्ग। इसलिए इनके स्वरूप को पहिचाने, देव-गुरु-धर्म के स्वरूप को पहिचाने।

विशुद्धि में यह भी पहिचाने कि हमारे खाने योग्य कौन वस्तु है और कौनसी हमारे खाने लायक नहीं है। हम जैनकुल में हुए है न, हमें जिनवाणी मिली है न, तो क्या यह बात नहीं जानना चाहिए हमें। "जितनी भी चीजें पैदा हुई है, वे सब खाने लायक हैं।" ऐसा कहते है लोग। तब फिर इतना भेद क्यों करते हो, सीढ़ी पर रखी चप्पल क्यों नहीं खा जाते पराठा समझकर। इसी तरह जिसमें बहुत जीवों का घात होता हो, बहुत जीव मरते हों, बहुत जीवों के जो स्थान हों, ऐसी जो चीजें हैं; जमीकन्द, आलू, शकरकन्द, गाजर, मूली, बाजार की जलेबी इत्यादि हैं, द्विदल है। बाजार की तो सभी चीजें अभक्ष्य ही होती हैं। सुना ! किसी ने छोड़ा हो तो छोड़ा हो, नहीं छोड़ा हो तो अभी छोड़कर जाना; क्योंकि इनमें अनन्तानन्त जीव

होते हैं। आलू, शकरकन्द, गाजर, मूली इसके एक टुकड़े के सुई जैसे स्थान में असंख्यात लोक प्रमाण निगोद शरीर होते हैं। शरीर की बात चल रही है, अभी तो निगोद, जिसको एक श्वाँस में 18 बार जन्म-मरण करनेवाला कहा जाता है। कोई जरूरी नहीं है, पर इतना करता है, लब्धपर्याप्तक होता है तो ऐसे जीव के असंख्यात लोक प्रमाण शरीर इतनी-सी जगह में होते हैं और एक शरीर में अनन्तानन्त जीव होते हैं। कहाँ रहते होंगे ? वहाँ तो समाते ही नहीं होंगे ?

जीव में विस्तार-संकोच की शक्ति है न। शरीर के प्रमाण ही उसका संकोच होता है। इसलिए इतने जीव जिसमें पाये जाएँ, और उन जीवों को जानते हुए भी हम उनको अपने हाथ से उठाकर मुँह में खा जाएँ, कितनी हत्या होती है। क्या हो जाता है हमारा यह मुँह, क्या बन जाता होगा ?.... इतनी भी दया नहीं है चित्त में।

इसीप्रकार रात्रि भोजन करते हैं, रात्रि में त्रसजीवों का घात..., सब्जी में गिर रहे हैं, और हम खाते जा रहे हैं। रात को नियम से जीव पैदा होते हैं और मरते हैं और हम खाते जाते हैं, ट्यूब लाइटों में खाते हैं।

द्विदल माने जिसकी दो दाल होती हो, मात्र दालें नहीं, वरन् किसी भी चीज की, जिसकी दो दाल होती हो, उसको दही, छाछ और दूध में मिलाकर खाने से इस मुँह के भीतर असंख्य त्रसजीव पैदा हो जाते हैं। त्रसजीव – माँस वाले माँसल जीव।

दहीबड़ा, बड़ी रसोई अर्थात शादी व्याह की रसोई में बनेगा कि नहीं ? क्यों बनेगा कि नहीं भैया ? दहीबड़े के बिना तो रसोई हो ही नहीं सकती, वह तो बनेगा ही बनेगा। अथवा और किसी तरह

आ जाएगा, दूध आ जायेगा, दही आ जायेगा, बाजार की लटों वाली मैदा आ जाऐगी, कुछ भी आ जाएगा। और रात्रि का भोजन तो धड़ल्ले से चलता है। जैनियों, दिगम्बर जैनियों की रसोईयों में, जिन दिगम्बर जैनों के लिए कहा जाता है कि पानी छानकर पीता है, तो जैन होगा। पूँछा जाता है उससे कि तुम जैन लगते हो ? जैनियों का लक्षण/चिह्न है ये। आज उन्हीं जैनियों के यहाँ हजारों लोग रात को खा रहे हैं और हम प्रसन्न हो रहे हैं। इस तरह के अनर्थ जीवन में जहाँ पर होते हों, रात और दिन मलिन परिणाम, मलिन चीजें ही देखना, मलिन बातों को ही याद करना। पूर्व के भोगों को याद करना।

आजकल चली है न प्रथा। कौन-सी प्रथा ? शादी की बर्षगाँठ। कितनी बेहूदा पद्धति है ये, जिसमें हम जाकर शामिल होते हैं और लिफाफे बाँटकर आते हैं। शादी की वर्षगाँठ ? अरे तुम मरने चले हो अस्सी वर्ष के बूढ़े और तुम पुराने भोगों को याद करते हो। तुम्हें शर्म नहीं आती। तुम्हें शर्म आना चाहिए यहाँ बैठने पर। इस तरह के ये नये-नये जो बेहूदा रिवाज हैं, उनमें हम शामिल होते हैं। अरे ! मोक्षार्थी तो वह होता है जिसका एकक्षण व्यर्थ नहीं जाता। व्यर्थ की बातों में समय नहीं गमाता है। बात करे तो बहुत संक्षेप में करे, विस्तार से बात न करे। मतलब की बात करे। दुनियाँ की चीजों को अधिक देखने का मन न करे। दुनियाँ की चीजों को देखो ही मत !

दूसरों का समय नष्ट ना करें। ज्यादा घूमना, फिरना बंद करें। ज्यादा अधिक लोगों को सुनना बंद करें। कुसंग को छोड़ें ! मिथ्यादृष्टियों का साथ छोड़ें ! मिथ्यादृष्टियों से बात करने का मौका आये तो कम से कम करें। हमें तो दुकान पर बात करना ही पड़ता है। अरे अधिक बात मत करो। उसको संक्षेप करके खत्म करने की चेष्टा करो। और उसमें रमो मत ये जो देव-गुरु-धर्म का सत्संग है

और इसको जानने वाले और इसका अनुभव करने वाले जो ज्ञानी हैं, जो आचार्य हैं, उनका जो संग है वह हमारे लिए निरन्तर संगति करने लायक है। शेष जगत में कोई हमारा नहीं है।

इसतरह ये जो विशुद्धि है परिणामों की। और हम समय नष्ट करते हैं। कितना समय है हमारे पास, हम टी.वी. देखते हैं, नाटक देखते हैं, मेलों में जाते हैं – ये मुमुक्षु का कर्त्तव्य है। वहाँ मलिन परिणाम लेकर जाते हैं और-और दूने मलिन परिणाम लेकर आते हैं। अरे ! जो मुमुक्षु टी.वी. के दर्शन करता है। जिसमें रात और दिन स्त्रियाँ नाचती हैं बेहूदा ढंग से, बेहूदा ढंग उसको देखने का परिणाम ही मलिन और फिर वह परिणाम लेकर उठा तो और मलिन, और आज तो घर-घर में हैं मुमुक्षु के। और फिर हम शिकायत करते हैं कि हमको आत्मानुभूति नहीं होती। उसे आत्मानुभूति ! ....अरे, विशुद्धि ही पैदा नहीं हुई अभी तो सच्चे देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा ही पैदा नहीं हुई। अभक्ष्य का/ मोटे अभक्ष्य का जिसमें अनन्तजीवों की हिंसा होती है, उसका त्याग ही नहीं हुआ, रात्रि भोजन का त्याग ही नहीं हुआ। क्या विशुद्धि होगी ?

ये तो मोटी विशुद्धि है मनुष्य के लायक। तिर्यञ्च तो नहीं कर पाता है ये काम, तो भी सम्यग्दर्शन होता है; क्योंकि उसे पता ही नहीं है वो लाचार है, उसको पराधीनता है, लेकिन फिर भी कर लेता है। शेर ने किया ना ! इसलिए इन सारी वस्तुओं के त्याग की तो प्रतिज्ञा लेकर जायें। हम परिणामों को जानबूझकर मलिन नहीं करेंगे। अनादिकाल से मलिन हैं अब भी यदि सच्चे देव शास्त्र-गुरु का सानिध्य मिला है, यहाँ आकर भी देव के दर्शन करके भी यदि परिणाम में विशुद्धि नहीं आयी तो तुझ जैसा अभागा जीव दूसरा नहीं है।

विवेक एक मशाल है, जो हमें मार्गदर्शन देती है, और तत्त्वज्ञान

के बल पर ही विवेक जागता है, इससे नैतिकता आती है और यह तत्त्वज्ञान की नैतिकता, विशुद्धि व्यवहार धर्म में शामिल है। लोक की नैतिकता भिन्न प्रकार की है, सारी विशुद्धता की सीढ़ियाँ हेयदृष्टि से बनानी होगी, इस शुभोपयोग की भूमिका में मैं अपने उपयोग को शुद्धात्मा की ओर ले जाऊँ तो निश्चित मुक्ति होगी। अन्य की महिमा रहे ही नहीं, सिद्ध पर्याय की भी नहीं, आत्मतत्त्व की महिमा सुनकर आवे तो अवश्य ही भव का नाश होकर मुक्ति हो।

मुमुक्षु का एक-एक क्षण रत्नों से भी अधिक कीमती होता है, वह विश्व का सर्वोच्च पुरुष होता है, एक क्षण भी उसका खर्च नहीं जाता। दुनिया के सारे काम ऊपर ही ऊपर चलते रहते हैं और अन्तर में शुद्धात्मा की धारा बहती रहती है, वह एक दिन अवश्य आत्मानुभूति प्राप्त कर आनन्द की घूँट पीता है।

मुमुक्षु की पहचान, उसकी दया की पहचान एक छोटी-सी क्रिया में, एक चींटी को बचाने में हो जाती है, पवित्र घर व पवित्र परिणाम, जहाँ चैतन्य की चर्चा से घर महकता हो, यहाँ भारतवर्ष में एक विद्वान थे मण्डन मिश्र, बड़े दार्शनिक विद्वान थे। जब कोई व्यक्ति जाकर गाँव में मण्डन मिश्र का मकान पूछता था, तब पनघट पर जो पनिहारियाँ होती थी, वह संस्कृत में यह जवाब देती थीं –

"स्वतः प्रमाणम् परतः प्रमाणम्
वीरांगना यत्र गिरन्ति तत्र
द्वारस्य वीरान्तर तनिबद्धा
जानहि तं मण्डनमिश्र धामः"

जिसके दरवाजे पर टंगे, तोता और मैना यह चर्चा कर रहे हों कि प्रमाण ज्ञान स्वतः होता है या परतः होता है, जहाँ यह चर्चा हो रही हो,

समझना वही मण्डन मिश्र का घर है। हमारे यहाँ भी जिस घर में शुद्धात्म तत्त्व की चर्चा हो रही हो, तो समझना मुमुक्षु का घर है।

आचार्य ने लिखा हैं परदव्वओ दुग्गई। हम तो ज्ञेय बनाते हैं। ये जगत मेरा ज्ञेय है, वे लिखते हैं – 'परदव्वओ दुग्गई' परद्रव्य को देखने की जो तुम्हारी इच्छा है, ये दुर्गति है। जहाँ पर को जाना है, वहाँ सब ज्ञेय जाना है, पर और ज्ञेय जानने का अर्थ ही यह है कि वहाँ से तुम सदा के लिए अपना मुँह फेर लो। उसकी ओर झाँको मत ! पर की ओर झाँको मत ! झाँकना नहीं है, इसको कहते हैं ज्ञेय बनना। जिसकी याद न आवे, जिसका विकल्प भी न हो, उसको पर कहते हैं। पर की याद क्यों आवे ? हमें दूसरे ही दूसरे के बंगले की याद क्यों आती है ? अरे ! अपने बंगले की याद क्यों नहीं आती है। 'सवदव्वाओ सुग्गई' जो स्वद्रव्य है शुद्ध चेतन, उससे सद्गति होती है याने मुक्ति होती है। स्वद्रव्य का जो आश्रय है अवलम्बन है, उसकी जो अनुभूति है वह वास्तव में मुक्ति का कारण है।

परद्रव्य दिखेंगे तो सही। ये सब अभी सभा बैठी है तो नहीं दिखती है क्या ? अरे ! परद्रव्य की बात तो क्या अपनी पर्याय को देखने का निषेध किया गया है। पर्याय को देखना पाप है। मोक्ष की पर्याय को याद करना राग है, उससे मोक्ष नहीं होता। अपनी पर्याय तक को याद नहीं करना। ऐसा कहने से पर्याय की याद नहीं आयेगी क्या ? और ये लोग नहीं दिखाई देंगे, ये दुनियाँ, ये छह द्रव्य हैं, ये नहीं दिखाई देंगे क्या ? दिखाई तो देंगे, लेकिन शुद्ध चैतन्य पर हमारी निष्ठा हो गई है सदा के लिए, जगत का सर्वोत्कृष्ट तत्त्व मैं हूँ – ऐसी जिसकी निष्ठा हो गई है तो उसके सामने यदि पदार्थ दूसरे आते भी हैं, अपनी पर्याय का विकल्प भी आ जाता है तो सारा का सारा उपेक्षित कक्षा में चला जाता है। उपेक्षित भाव अर्थात् कुछ

नहीं है। जिस तरह से हम बाजार में जाते हैं अपने काम से और वहाँ पर बहुत चीजें होती हैं तो सबको एक-एक दुकान पर गिन-गिन कर देखते हैं या उपेक्षितभाव से निकल जाते हैं, होगा कोई, होगी किसी की दुकान, होगा किसी का सामान, हम अपने काम पर चले जाते हैं। इसी तरह मोक्षार्थी इन सबको पार करता हुआ अपने श्रुतज्ञान को चैतन्य पर ले जाता है। ये उसकी क्रिया है। ये उसका जीवन है। हम तो विकल्पों से काम चलाते हैं। रात और दिन विकल्प।

अरे ! वह शुद्ध चैतन्य, जो विकल्प मात्र से रहित है। उसके भी विकल्प। मैं शुद्ध हूँ, मैं बुद्ध हूँ, मैं चैतन्य तत्त्व हूँ, मैं आनन्द तत्त्व हूँ, मैं ज्ञानस्वरूप हूँ – ये विकल्प ही विकल्प। पर साहब ! वह होती ही नहीं है अर्थात अनुभूति तो होती ही नहीं है। बहुत कोशिश करते हैं।

झूंठ मत बोलो ! आजतक जरा-सी भी कोशिश नहीं की, शुद्ध चैतन्य की अनुभूति की। जो कोशिश है उसकी, जो उसकी कोशिश की जाये, जो उसकी विधि है वह, यदि एकबार कर ली जाये और फैल हो जाये तो जगत में से मोक्षमार्ग उठ जायेगा। वह फैल नहीं होती है कभी भी, क्योंकि उसके बीच में कोई आता नहीं है। जिस समय जीव का श्रुतज्ञान शुद्ध चैतन्य की ओर बढ़ता है उस समय आठ कर्म एक तरफ हो जाते हैं। भावकर्म राग-द्वेष-मोह एक तरफ हो जाते हैं। सारी दुनियाँ एक ओर हो जाती है।

अरे ! जगत के हीरे, माणिक्य, मोती से अधिक उपलब्ध हमारे सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की और शुद्ध चैतन्य की है। वो एक बार मिल गया तो जीवन धन्य हो जाता है। ●

श्री सिद्ध पूजन का अर्थ

अर्थकार – पण्डित अभयकुमार जैन जैनदर्शनाचार्य, छिन्दवाड़ा

निज वज्र पौरुष से प्रभो ! अन्तर-कलुष सब हर लिये।
प्रांजल प्रदेश-प्रदेश में, पीयूष निर्झर झर गये ॥
सर्वोच्च हो अतएव बसते लोक के उस शिखर रे।
तुम को हृदय में स्थाप, मणि-मुक्ता चरण को चूमते ॥**स्थापना**॥

हे प्रभो ! आपने अपने प्रबल तूफानी पुरुषार्थ से आत्मा के समस्त विकारी भावों को नष्ट कर दिया है, जिससे आपका प्रत्येक प्रदेश (पर्याय के प्रदेश) शुद्ध हो गया है, जिसमें अमृत के झरने झर रहे हैं। आपने सर्वोच्च पद प्राप्त कर लिया है अतः आप लोक के शिखर पर अर्थात् सिद्ध शिला में निवास करते हो। हे प्रभो ! मैं आपको अपने हृदय में स्थापित करके यह मणि-मुक्ता आपके चरणों में समर्पित कर रहा हूँ।

शुद्धातम-सा परिशुद्ध प्रभो ! यह निर्मल नीर चरण लाया।
मैं पीड़ित निर्मम ममता से, अब इसका अन्तिम दिन आया ॥
तुम तो प्रभु अंतर्लीन हुए, तोड़े कृत्रिम सम्बन्ध सभी।
मेरे जीवन-धन तुमको पा, मेरी पहली अनुभूति जगी ॥**जल**॥

हे प्रभो ! मैं शुद्धात्मा के समान परिपूर्ण निर्मल जल लेकर आपके चरणों में आया हूँ। परद्रव्यों में ममत्व बुद्धिरूपी ममता ने अत्यन्त निर्मम होकर मुझे अनादि से अनन्त कष्ट दिए हैं, परन्तु अब इसका अन्तिम दिन आ गया है अर्थात् आज यह अवश्य ही नष्ट होगी। हे प्रभो ! आप तो परपदार्थों के साथ सभी कृत्रिम सम्बन्धों को तोड़कर आत्मा में लीन हो गए हो। आप मेरे जीवन की अमूल्य सम्पत्ति हैं। आपको पाकर मुझे मेरी प्रथम आत्मानुभूति प्रगट हुई है।

मेरे चैतन्य-सदन में प्रभु ! धू धू **क्रोधानल जलता है** ।
अज्ञान-अमा के अंचल में, जो छिपकर पल-पल **पलता है** ॥
प्रभु ! जहाँ क्रोध का स्पर्श नहीं, तुम बसो मलय की **महकों में** ।
मैं इसीलिए मलयज लाया क्रोधापुर भागे पलकों में ॥**चन्दन**॥

हे प्रभो ! मेरे चैतन्यरूपी सदन में अति प्रबल कोधरूपी अग्नि धू-धू करके जल रही है, जो अज्ञानरूपी अमावश के अंधकार में छिपकर प्रतिपल पलती रहती है। परन्तु आप तो चन्दन के समान सुगन्धित अपने शुद्धात्मा में रहते हो, जिसे क्रोध छू भी नहीं सकता। इसीलिए मैं आपके चरणों में यह चन्दन लाया हूँ ताकि मेरा क्रोधरूपी राक्षस पलभर में भाग जाए अर्थात् अभाव को प्राप्त हो जाए।

अधिपति प्रभु ! धवल भवन के हो, और धवल तुम्हारा अन्तस्तल।
अन्तर के क्षत सब विक्षत कर, उभरा स्वर्णिम सौंदर्य विमल ॥
मैं महा मान से क्षत-विक्षत, हूँ खंड खंड लोकांत-विभो।
मेरे मिट्टी के जीवन में, प्रभु अक्षत की गरिमा भर दो ॥अक्षत्॥

हे भगवान ! आप सिद्धालयरूपी धवल महल के स्वामी हो और आपका शुद्धात्मा भी निर्मल है। आपने आत्मा के सम्पूर्ण विकारी भावों को नष्ट कर दिया है, जिससे आपका स्वर्ण (सौटंच) के समान निर्मल सौन्दर्य प्रगट हो गया है। परन्तु हे प्रभो ! मैं मान कषाय से खण्डित हो रहा हूँ, अतः आप मेरे मिट्टी जैसे तुच्छ जीवन में अखण्ड द्रव्यस्वभाव की गरिमा भर दीजिए अर्थात् मेरी परिणति अपने को अखण्ड द्रव्यरूप अनुभव करने लगे।

चैतन्य-सुरभि की पुष्प वाटिका, में विहार नित करते हो।
माया की छाया रंच नहीं, हर बिन्दु सुधा की पीते हो ॥
निष्काम प्रवाहित हर हिलोर, क्या काम काम की ज्वाला से।
प्रत्येक प्रदेश प्रमत्त हुआ, पाताल-मधु-मधुशाला से ॥पुष्प॥

हे प्रभो ! आप चैतन्य की सुगन्ध से महकती हुई पुष्पवाटिका रूपी शुद्धात्मा में सदा विहार करते हैं। आपकी परिणति में लेशमात्र भी माया कषाय नहीं है। आप परिपूर्ण अतीन्द्रिय आनन्द रस का पान करते हैं। आपकी प्रत्येक परिणति विषयों की कामना से रहित है अतः उसमें काम-दाह उत्पन्न होने का अवकाश बिलकुल नहीं है। अतः आत्मा के आनन्द रस का पान करने से आपका प्रदेश-प्रदेश आह्लादित हो गया है।

यह क्षुधा देह का धर्म प्रभो ! इसकी पहिचान कभी न हुई।
हर पल तन में ही तन्मयता, क्षुत्-तृष्णा अविरल पीन हुई॥
आक्रमण क्षुधा का सह्य नहीं, अतएव लिये हैं व्यंजन ये।
सत्वर तृष्णा को तोड़ प्रभो ! लो, हम आनंद-भवन पहुँचे॥नैवेद्य॥

हे प्रभो ! मैंने आज तक यह नहीं जाना कि यह क्षुधा तो शरीर का स्वभाव है, आत्मा का नहीं। अतः मैं प्रतिपल शरीर में एकत्वबुद्धि कर रहा हूँ, जिससे मेरी क्षुधा और तृष्णा निरन्तर पुष्ट हो रही है। अब मुझसे यह क्षुधा की वेदना सहन नहीं होती, अतः ये व्यञ्जन लेकर आपके चरणों में आया हूँ। अब मैं शीघ्र ही विषयों की तृष्णा को नष्ट करके आनन्दभवन अर्थात् शुद्धात्मा में वास कर रहा हूँ अथवा अब मैं अपने शुद्धात्मा में वास करूँ।

विज्ञान नगर के वैज्ञानिक, तेरी प्रयोगशाला विस्मय।
कैवल्य-कला में उमड़ पड़ा, सम्पूर्ण विश्व का ही वैभव॥
पर तुम तो उससे अति विरक्त, नित निरखा करते निज निधियाँ।
अतएव प्रतीक प्रदीप लिये, मैं मना रहा दीपावलियाँ॥दीप॥

ज्ञानस्वभावी आत्मारूपी विज्ञान नगर में वास करने वाले हे वैज्ञानिक ! आपकी प्रयोगशाला अर्थात् केवलज्ञान परिणति को देखकर मुझे अत्यन्त आश्चर्य हो रहा है, क्योंकि आपकी एक

केवलज्ञान कला मात्र में सारा विश्व उमड़ पड़ा है अर्थात् आपके ज्ञान में सम्पूर्ण लोकालोक एक साथ झलक उठा है। परन्तु आप उससे बिल्कुल अप्रभावित रहकर निरन्तर अपने आत्मा की निधियों को निहारा करते हैं। अतः मैं केवलज्ञान का प्रतीक यह दीपक लेकर दीपावलियाँ मना रहा हूँ अर्थात् आनन्द का महोत्सव मना रहा हूँ।

तेरा प्रसाद महकता प्रभु ! अति दिव्य दशांगी धूपों से।
अतएव निकट नहिं आ पाते, कर्मों के कीट-पतंग अरे॥
यह धूप सुरभि-निर्झरणी, मेरा पर्यावरण विशुद्ध हुआ।
छक गया योग-निद्रा में प्रभु ! सर्वांग अमी है बरस रहा॥धूप॥

हे प्रभो ! आपका शुद्धात्मरूपी प्रासाद (महल) निरन्तर क्षमा आदि दिव्य दशधर्म रूप धूप से महक रहा है, अतः कर्मरूपी कीड़े-मकोड़े आपके पास नहीं आते। इस दशधर्मरूपी धूप से सुगन्ध का झरना झर रहा है, जिससे मेरी पर्याय में विकार (मोह-रागादि) का प्रदूषण नष्ट हो गया है तथा मैं अतीन्द्रिय आनन्दरूपी समाधि में लीन होकर तृप्त हो गया हूँ, जिससे मेरे सम्पूर्ण प्रदेशों में आनन्द का अमृत बरस रहा है।

निजलीन परमस्वाधीन बसो, प्रभु ! तुम सुरम्य शिवनगरी में।
प्रतिपल बरसात गगन से हो, रसपान करो शिवगगरी में॥
ये सुरतरुओं के फल साक्षी, यह भवसंतति का अंतिम क्षण।
प्रभु मेरे मंडप में आओ, है आज मुक्ति का उद्घाटन॥फल॥

हे सिद्ध भगवान् ! आप सदैव अपने आत्मा में लीन होकर परम स्वाधीनतापूर्वक अत्यन्त रमणीय मुक्तिपुरी में वास करते हो। आकाश के समान रागादि से शून्य शुद्ध चैतन्य से प्रत्येक क्षण आनन्द रस की वर्षा हो रही है, जिसे शिवगगरी (सिद्ध पर्याय) में भर-भर कर, आप उसका पान करते रहते हो।

हे प्रभो ! ये कल्पवृक्षों के फल इस बात के साक्षी हैं कि यह मेरी जन्म-मरण की सन्तति का अन्तिम क्षण है, अतः मेरी मुक्ति का उद्घाटन करने के लिए आप मेरे पर्यायरूपी मण्डप में पधारिये।

तेरे विकीर्ण गुण सारे प्रभु ! मुक्ता-मोदक से सघन हुए।
अतएव रसास्वादन करते, रे ! घनीभूत अनुभूति लिये॥
हे नाथ ! मुझे भी अब प्रतिक्षण निज अंतर-वैभव की मस्ती।
है आज अर्घ की सार्थकता, तेरी अस्ति मेरी बस्ती॥अर्घ्य॥

हे प्रभो ! आपके बिखरे हुए सभी गुण मोतीचूर के लड्डू के समान सघन हो गए हैं अर्थात् सभी गुणों की पर्यायें आत्मा का आश्रय करके अखण्ड अनुभूतिरूप प्रगट हो गई हैं। अतः आप प्रतिपल अखण्ड अनुभूति का रसास्वादन करते हो। हे नाथ ! अब मैं प्रति समय अपने अन्तर वैभव में मस्त हो गया हूँ तथा आपके समान सिद्ध समान शुद्धात्मा में ही मेरा वास हो, तभी यह अर्घ्य सार्थक होगा।

जयमाला

चिन्मय हो, चिद्रूप प्रभु ! ज्ञाता मात्र चिदेश।
शोध-प्रबन्ध चिदात्म के, सृष्टा तुम ही एक॥

हे भगवन् ! आप चैतन्यमय हो, चैतन्यस्वरूप हो, चैतन्य के स्वामी हो और मात्र ज्ञाता हो। आत्मशुद्धि के विधान की शोध के एकमात्र रचयिता भी आप ही हो।

जगाया तुमने कितनी बार, हुआ नहिं चिर-निद्रा का अन्त।
मदिर सम्मोहन ममता का, अरे ! बेचेत पड़ा मैं सन्त॥
घोर तम छाया चारों ओर, नहीं निज सत्ता की पहिचान।
निखिल जड़ता दिखती सप्राण, चेतना अपने से अनजान॥

हे प्रभो ! आपने मुझे मोह नींद से कितनी बार जगाया, किन्तु मेरी अनादिकालीन मोहनिद्रा का अन्त नहीं हुआ। परपदार्थों में एकत्वबुद्धि

के मादक सम्मोहन से मैं बेहोश पड़ा रहा। मेरे चारों ओर अज्ञान का अंधकार छाया हुआ होने से मुझे अपने स्वरूप की पहिचान नहीं हुई। सम्पूर्ण जड़ पदार्थ तो मुझे प्राणवन्त दिखते हैं अर्थात् उनमें से ज्ञान की उत्पत्ति भासित होती है; परन्तु मेरा ज्ञान स्वयं से अनजान रहा।

ज्ञान की प्रतिपल उठे तरंग, झाँकता उसमें आतमराम।
अरे! आबाल सभी गोपाल, सुलभ सबको चिन्मय अभिराम॥
किंतु पर सत्ता में प्रतिबद्ध, कीर-मर्कट-सी गहल अनन्त।
अरे ! पाकर खोया भगवान, न देखा मैंने कभी बसन्त॥

हे प्रभो ! मेरी परिणति में प्रतिपल उठती हुई ज्ञान की तरंगों में मेरा आत्मा ही उछल रहा है। चैतन्य स्वरूप आबाल-गोपाल सभी को ज्ञानपर्याय में उपलब्ध है, किन्तु परपदार्थों में एकत्वबुद्धि के कारण मुझमें तोते और बन्दर के समान अज्ञान की बेहोशी छाई हुई है। इसलिए मैंने अपनी ज्ञान परिणति में भगवान आत्मा उपलब्ध होने पर भी उसे न पहचानने के कारण खो दिया, इसलिए मेरे जीवन में आज तक आत्मानुभूति रूपी बसंत कभी नहीं आया।

नहीं देखा निज शाश्वत देव, रही क्षणिका पर्यय की प्रीति।
क्षम्य कैसे हों ये अपराध ? प्रकृति की यही सनातन रीति॥
अतः जड़ कर्मों की जंजीर, पड़ी मेरे सर्वात्म प्रदेश।
और फिर नरक निगोदों बीच, हुए सब निर्णय हे सर्वेश॥

मैंने अपने शाश्वत स्वभाव को आज तक नहीं देखा और क्षणिक पर्याय से ही प्रेम करता रहा अर्थात् उसे अपना मानता रहा। मेरा ये अपराध क्षम्य कैसे हो सकता है, क्योंकि प्रकृति की यह सनातन परम्परा है कि अपराधों का फल भोगना पड़ता है। अतः मेरे सर्वप्रदेशों में जड़ कर्मों की बेड़ियाँ बंध गई और नरक तथा निगोद की प्राप्ति के रूप में उन अपराधों के फल का निर्णय हुआ।

घटाघन विपदा की बरसी, कि टूटी शंपा मेरे शीश।
नरक में पारद-सा तन टूक, निगोदों मध्य अनन्ती मीच॥
करें क्या स्वर्ग सुखों की बात, वहाँ की कैसी अद्भुत टेव।
अन्त में बिलखे छह-छह मास, कहें हम कैसे उसको देव॥

नरक और निगोदों में मुझ पर विपत्तियों के घनघोर बादल बरसे मानों मेरे सिर पर बिजली गिर रही हो। नरक में पारे के समान शरीर के टुकड़े हुए तथा निगोद में अनन्तबार जन्म-मरण के दुख भोगे। स्वर्ग के सुखों की बात क्या की जाए वहाँ की कैसी अद्भुत परम्परा है कि आयु के अन्त में छह-छह मास तक बिलखना पड़ता है, अतः हम उसे देव कैसे कहें ? अर्थात् स्वर्ग में सुख कैसे कहें ?

दशा चारों गति की दयनीय, दया का किन्तु न यहाँ विधान।
शरण जो अपराधी को दे, अरे ! अपराधी वह भगवान॥
अरे ! मिट्टी की काया बीच, महकता चिन्मय भिन्न अतीव।
शुभाशुभ की जड़ता तो दूर, पराया ज्ञान वहाँ परकीय॥

इसप्रकार चारों गतियों की अत्यन्त दयनीय दशा होने पर भी प्रकृति में दया करने की कोई व्यवस्था नहीं है; क्योंकि जो अपराधियों पर दया करके उन्हें शरण देता है, वह स्वयं अपराधी है। यदि कोई तथाकथित भगवान भी अपराधियों को शरण देने की बात कहता है तो वह भी अपराधी है।

हे प्रभो ! इस मिट्टी की काया में चैतन्य स्वरूप भगवान आत्मा अलग से महक रहा है, जो कि शुभाशुभ भावों की जड़ता से तो भिन्न है ही, परलक्ष्यी ज्ञान भी उसका स्वरूप नहीं है।

अहो ! 'चित्' परम अकर्तानाथ, अरे ! वह निष्क्रिय तत्त्व विशेष।
अपरिमित अक्षय वैभव-कोष, सभी ज्ञानी का यह परिवेश॥
बताये मर्म अरे ! यह कौन ? तुम्हारे बिन वैदेही नाथ।
विधाता शिव-पथ के तुम एक, पड़ा मैं तस्कर दल के हाथ॥

अहो ! वह चैतन्यस्वभाव परम अकर्ता है, **निष्क्रिय तत्त्व है।** अनन्त वैभव का अक्षय कोष है, सभी ज्ञानियों की **अनुभूति का विषय** है। हे वैदेहीनाथ ! आपके बिना यह मर्म कौन बतला सकता है ? **मोक्षमार्ग** के विधाता आप एक ही हो और मैं कर्मरूपी लुटेरों के हाथ पड़ गया हूँ।

किया तुमने जीवन का शिल्प, खिरे सब मोह, कर्म और गात।
तुम्हारा पौरुष झंझावात, झड़ गये पीले-पीले पात॥
नहीं प्रज्ञा-आवर्त्तन शेष, हुए सब आवागमन अशेष।
अरे प्रभु ! चिर-समाधि में लीन, एक में बसते आप अनेक॥

आपने अपने जीवन की रचना इसप्रकार की है कि जिससे द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म खिर गये हैं। आपके तूफानी पुरुषार्थ से सभी कर्मरूपी पीले-पीले पत्ते झड़ गये हैं अर्थात् विकार नष्ट हो गए हैं। अब आपके उपयोग में ज्ञप्ति परिवर्तन भी नहीं होता। सम्पूर्ण आवागमन मिट गया है। चिर समाधि में लीन हे प्रभो ! आपके प्रदेशों में अनन्त सिद्धों के प्रदेश रहते हैं अर्थात् एक में अनन्त सिद्ध विराजमान रहते हैं। पर किसी को किसी से कोई बाधा नहीं होती।

तुम्हारा चित्-प्रकाश कैवल्य, कहैं तुम ज्ञायक लोकालोक।
अहो ! बस ज्ञान जहाँ हो लीन, वही है ज्ञेय, वही है भोग॥
योग-चांचल्य हुआ अवरुद्ध, सकल चैतन्य निकल निष्कंप।
अरे ! ओ योगरहित योगीश ! रहो यों काल अनन्तानन्त॥

केवलज्ञानरूपी चैतन्य प्रकाश में आप लोकालोक के ज्ञाता कहे जाते हैं, ज्ञान जिसमें लीन होता है परमार्थ से वही ज्ञेय है और वही भोग है। आपके योगों में चंचलता मिट जाने से सम्पूर्ण चैतन्य अकंप अडोल स्थिर हो गया है। हे योगरहित योगीश ! आप अनन्तानन्त काल तक ऐसे ही निष्कंप रहेंगे।

जीव कारण-परमात्म त्रिकाल, वही है अन्तस्तत्व अखंड।
तुम्हें प्रभु ! रहा वही अवलम्ब, कार्य-परमात्म हुए निर्बन्ध॥
अहो ! निखरा कांचन चैतन्य, खिले सब आठों कमल पुनीत।
अतीन्द्रिय सौख्य चिरंतन भोग, करो तुम धवल महल के बीच॥

आत्मा त्रैकालिक कारण परमात्मा है, और वही अखण्ड अंतस्तत्व है। हे प्रभो ! आप उसी के अवलम्बन से पूर्ण मुक्त कार्य परमात्मा हो गए हो। अहो ! आपका निर्मल चैतन्य स्वभाव निखर उठा है और आपके आठों गुण पवित्र प्रगट हो गए हैं। आप सिद्धशिला पर अतीन्द्रिय सुख का शाश्वत भोग करते रहते हो।

उछलता मेरा पौरुष आज, त्वरित टूटेंगे बंधन नाथ।
अरे ! तेरी सुख-शय्या बीच, होगा मेरा प्रथम प्रभात॥
प्रभो ! बीती विभावरी आज, हुआ अरुणोदय शीतल छाँव।
झूमते शांति-लता के कुंज, चलें प्रभु ! अब अपने उस गाँव॥

आज मेरा भी पुरुषार्थ भी ऐसा उछल रहा है, जिससे मेरे बन्धन शीघ्र टूट जायेंगे। हे प्रभो ! आपके समान अतीन्द्रिय सुख की शय्या में ही मेरे भेदज्ञान की किरण फूटेगी। हे प्रभो ! अब मेरी मोह की रात्रि व्यतीत हो गई है। तथा सम्यक्त्वरूपी सूर्य का उदय हो गया है जिसकी शीतल छाया में शान्तिरूपी लता के कुंज झूम रहे हैं। अतः अब हम अपने शुद्धात्मरूपी गाँव में चलें।

चिर-विलास चिद्ब्रह्म में, चिर-निमग्न भगवंत।
द्रव्य-भाव स्तुति से प्रभो ! वंदन तुम्हें अनन्त॥

चैतन्य ब्रह्म में लीन होकर शाश्वत विलास करने वाले हे सिद्ध भगवान ! मैं आपको द्रव्य और भाव से अनन्त वन्दन करता हूँ। ●